प्रबंध-प्रभाकर

(साहित्यिक निबंधों का संग्रह)

रामरतन भटनागर एम० ए०, डी० फ़िल०
सागर विश्वविद्यालय, सागर

प्रकाशक

रामनारायण लाल
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
प्रयाग

प्रथम संस्करण] १९५३ [मूल्य २)

मुद्रक—एस० एस० शर्मा, आज़ाद प्रेस, इलाहाबाद

कुछ शब्द

इस संकलन में मेरे ३२ साहित्यिक निबंध संग्रहीत हैं। विषय मुख्यतः काव्यान्दोलन अथवा प्रमुख काव्य ग्रन्थ हैं, यद्यपि नाटक, उपन्यास, कहानी और समीक्षा के प्रमुख प्रतिनिधियों अथवा उनकी रचनाओं से संबंधित कुछ निबंध भी संग्रह में आ गये हैं। काव्य-विषयक निबन्धों में हिंदी के आदि काल से लेकर आधुनिक प्रगतिवादी और प्रयोगवादी युग तक के काव्य का प्रतिनिधित्व आ गया है। इस प्रकार संकलन के इन थोड़े से निबन्धों में भी हिंदी साहित्य के ऐतिहासिक और आभ्यंतरिक विकास का एक खाका उतर आया है। वैसे फुटकल निबन्धों में न तो विषय के साथ सम्पूर्ण रूप से न्याय किया जा सकता है, न आलोचनात्मक दृष्टि की सर्वांगीणता का निर्वाह हो सकता है। फिर भी समास-शैली को अपनाते हुए थोड़े में बहुत कुछ कहने का प्रयत्न किया गया है। हिन्दी साहित्य में रुचि रखने वाले पाठकों को यह सामग्री नई चिंतन-भूमि दे सकेगी, ऐसा लेखक का विश्वास है।

प्रस्तुत सामग्री व्यावहारिक समीक्षा से संबंधित है। सैद्धांतिक समीक्षा को इस संकलन में स्थान नहीं मिल सका है। एक तो सैद्धान्तिक समीक्षा के विषय गूढ़ रहते हैं और साहित्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने वाले विद्यार्थियों को आंतकित कर देते हैं। दूसरे उनके लिए अध्ययन और चिंतन की पर्याप्त भूमि अपेक्षित है। जिन पाठकों के लिए यह संकलन उपस्थित किया जा

रहा है, उनसे उतने गहरे और विस्तृत साहित्य बोध की आशा नहीं की जा सकती। इसी से व्यावहारिक समीक्षा को लेकर चलने वाले निबंध ही इस संकलन में रखे गए हैं। इसके अध्ययन से वे साहित्य-विकास की ऐतिहासिक और वैचारिक भूमि बना सकेंगे और उन्हें साहित्य-सिद्धान्तों की वीथियों में विचरण करने में सुगमता मिलेगी।

सागर विश्वविद्यालय
७ मई, १९५३

रामरतन भटनागर

विषय-सूची

प्रबन्ध-प्रभाकर

प्राचीन हिंदी कविता की पृष्ठभूमि

किसी भी जाति का साहित्य एक महानद के प्रवाह की तरह है जो शताब्दियों पहले से बहता चला आता है और न जाने कितनी शताब्दियाँ पार करने को बराबर आगे बढ़ता जाता है। उस प्रवाह के दोनों छोर ज़रा कठिनाई से मिल सकते हैं। आदि स्रोत तक तो हम खोज से थोड़ा-बहुत पहुँच भी सकते हैं, परंतु एक-दो शताब्दी बाद आज के साहित्य का क्या रूप होगा, यह कोई भविष्य-द्रष्टा भी कदाचित् ठीक-ठीक नहीं बता सके। हिंदी साहित्य के संबंध में भी यही कहा जा सकता है। उसके पीछे 'छांदस' (वैदिक संस्कृत), संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश का विशाल साहित्य है जो २००० ई० पू० से १४०० ई० तक फैला हुआ है। हिंदी का साहित्य भाषा, भाव और छंद की दृष्टि के अपभ्रंश के निकट सबसे अधिक है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि वह पूर्व के सारे साहित्य का ऋणी है। सच तो यह है कि साहित्य की एक महान् धारा वैदिक युग से आज तक इस देश में वही है और जो धारा कभी छांदस और संस्कृत-पाली के रूप में बहती थी, वही आज हिंदी के रूप में प्रवहमान है। भारतीय जनता की संस्कृति, भाषा, भावना और इतिहास का दर्पण इसी साहित्य-धारा में मिलेगा।

हिंदी साहित्य का मुख्य अंग काव्य है। लगभग १८०० ई० तक काव्य ही साहित्य का प्रतिनिधित्व करता था। गद्य थोड़ा था और साहित्य की दृष्टि से वह महत्त्वपूर्ण भी नहीं था। अतः प्राचीन हिंदी साहित्य पर विचार करते समय साहित्य से हमारा तात्पर्य काव्य-साहित्य से ही होता है।

वैदिक संस्कृत से हिंदी तक पहुँचते-पहुँचते दो ढ़ाई-हजार वर्ष हो जाते हैं। इन बीस-पच्चीस शताब्दियों में वैदिक संस्कृत ने लौकिक संस्कृत और प्राकृत के रूप में बदलते हुए अंत में अपभ्रंश का रूप ग्रहण कर लिया। अपभ्रंश का समय निश्चित रूप से कब से आरम्भ होता है, यह बतलाना कठिन है, परंतु प्राकृतों के ऐश्वर्य का समय ३ री शताब्दी ई० पू० से २ री शताब्दी ई० तक है। इन चार शताब्दियों में भारत की राष्ट्र-भाषा प्राकृत ही थी। यह निश्चय है कि प्राकृतों का स्थान शीघ्र ही अपभ्रंशों ने ले लिया होगा, परंतु अपभ्रंश का साहित्य हर्ष के बाद ही मिलता है। जान पड़ता है, अपभ्रंश धीरे-धीरे १२ वीं० शताब्दी के लगभग प्राचीन हिंदी में ढल गई। उसके कई प्रादेशिक रूप विकसित हुए : खड़ी, ब्रज, अवधी, मैथिली, राजस्थानी (पिंगल)। रूप तो और भी कई थे परंतु साहित्य-क्षेत्र में जन-बोली के इन्हीं रूपों का प्रयोग हुआ। हिंदी का प्राचीन काव्य-साहित्य इन्हीं प्रादेशिक रूपों में है। १००० ई० से १४०० ई० तक अपभ्रंश में बराबर साहित्य-रचना होती रही, परंतु इसी बीच में हिंदी के प्रादेशिक अनेक रूप भी पुष्ट हो गये।

अतः हिंदी के आदिकाल को हम अपभ्रंश और पुरानी हिंदी के बीच में कहीं रख सकते हैं। १००० ई० तक जो साहित्य हमें अपभ्रंश में मिलता है वह मुख्यतः नालंदा और विक्रम-शिला से संबंधित सिद्ध कवियों और साधकों की रचनाओं के रूप में उपलब्ध है। पश्चिम प्रदेश में जैन महाराष्ट्री ही अधिक चलती थी। १००० ई० के बाद इस क्षेत्र में भी अपभ्रंश का विकास हुआ, परंतु काव्य-शैली प्राकृत से ही प्रभावित

रही। मुसलमानों के दिल्ली-विजय के आस-पास खड़ी (हिंदवी, हिंदुई) बोली का प्राचीन अपभ्रंश-रूप पूर्णतया विकसित हो गया था और इसी भाषा में हिंदी का सबसे प्राचीन काव्य-साहित्य है जो गोरखनाथ और उनके शिष्यों-प्रशिष्यों से सम्बन्धित है। मुसलमान सूफ़ियों और संतों ने भी इस भाषा को अपना लिया। उनका भी थोड़ा-बहुत साहित्य हमारे सामने है यद्यपि उन्होंने काव्य-रचना के लिए अपनी प्रादेशिक भाषा को ही अपनाया है। यह ठीक ही है। शेष दो प्रादेशिक भाषाएँ जिनमें प्राचीन हिंदी साहित्य उपलब्ध है ब्रज और अवधी हैं। ब्रजभाषा का विशेष विकास १४०० ई० के आस-पास आरम्भ होता है। कदाचित् उससे कुछ पहले ही अवधी में ही—चौपाइयों-दोहों में—सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य की एक परम्परा स्थापित हो चुकी थी। ब्रज में कृष्ण-भक्ति और अवध में रामभक्ति के साहित्य का जन्म और विकास हुआ। इन दोनों भाषाओं में काव्य-रचना की परम्परा अब तक चली आती है। इनमें अवधी तो स्थानीय भाषा (बोली) बनी रही। वह अपने प्रकृत क्षेत्र से बाहर नहीं निकली। परंतु ब्रजभाषा लगभग चार सौ वर्षों तक उत्तर भारत की काव्य-भाषा बनी रही। ब्रजभाषा का अधिकांश काव्य पदों और कवित्त-सवैयों एवं दोहों में है। १५वीं शताब्दी में ब्रजक्षेत्र में हिंदू-मुसलिम गायकों द्वारा एक अभिनव गीत-पद्धति का निर्माण हुआ। ग्वालियर इस क्रांति का क्षेत्र था और राजा मानसिंह इन गायकों के आश्रयदाता थे। शेख़ मुहम्मद ग़ौस, बैजू बावरे, तानसेन, हरिदास, हितहरिवंश और सूरदास के नाम इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं। फलतः ब्रजक्षेत्र से हमें नया गीत (पद)-साहित्य प्राप्त हुआ है। ध्रुपद-धमार की एक नई शैली विकसित हुई और उसमें राधा-माधव-केलि को विषय बनाया गया। जयदेव के 'गीतगोविंद' से यह पद-साहित्य पूर्णतया प्रभावित था, परंतु उसके विषय, संगीत और पद-लालित्य का विकास अपने ढंग पर हुआ। भक्तिभावना, सौंदर्य और माधुर्य की दृष्टि से यह पद-साहित्य

बेजोड़ है। पूर्व में विद्यापति (१३७५-१४५०) और उनके सामयिक बंगाली कवि चंडीदास जयदेव की शैली में पहले ही ऐसे गीतों का निर्माण कर चुके थे। परंतु ब्रजभाषा का साहित्य एकदम अपूर्व है। वह हिंदी साहित्य की श्रेष्ठतम सम्पत्ति है।

अवधी साहित्य की सबसे विशिष्ट रचनायें जायसी का 'पद्मावत' और तुलसी का 'रामचरितमानस' हैं। परंतु आख्यानक काव्य के रूप में अवधी का बहुत बड़ा साहित्य हमारे सामने है। यदि हम कबीर और अन्य पूर्वी संतों का साहित्य भी इसमें मिला लें तो यह ब्रजभाषा के पद-साहित्य से कम महत्त्वपूर्ण नहीं निकलेगा। कबीर का समय १३६८-१५१८ है। इससे स्पष्ट है कि अवधी में रचना का कार्य १४ वीं शताब्दी में आरम्भ हो गया था। कबीर और अन्य संतों ने निर्गुण राम को अपना विषय बनाया। इस वर्ग पर इस्लामी सूफ़ी साधना का भी कम प्रभाव नहीं था। तुलसी ने भक्ति और उपासना के क्षेत्र में निर्गुण मतवाद का विरोध किया और सगुण दाशरथि राम को अपना आराध्य माना। जहाँ निर्गुण काव्य वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मण-पंडित और शास्त्र की महत्ता को अस्वीकार कर देता है, वहाँ तुलसी का काव्य प्राचीन हिंदू संस्थाओं को बल देता है। वह भारत की संपूर्ण सांस्कृतिक निधि से पूर्ण रूप से पोषित है। अधिकांश अवधी साहित्य आख्यानात्मक है और दोहा-चौपाइयों में है। केवल संतों ने पद-साहित्य को अपना मुख्य माध्यम बनाया है। शब्दों के रूप में पद और साखी के रूप में दोहा हमें इस साहित्य में मिलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अँग्रेज़ों के आने तक हिंदी का सारा काव्य-साहित्य मुख्यतः धार्मिक है। परंतु धार्मिक कहने से हम उसे छोटा नहीं कर सकेंगे। उसमें जहाँ एक ओर अत्यंत उत्कृष्ट काव्य-कला के दर्शन होते हैं, वहाँ दूसरी ओर मानव-अंतर्मनस के निर्माण के लिए भी बहुत कुछ है। सच तो यह है कि मध्ययुग के इस विशाल वांगमय के जोड़

की चीज संस्कृत के पास भी नहीं है। वह परलोक की ओर अधिक देखता है, परंतु यह इस साहित्य की दुर्बलता नहीं। यह तो भारत की सांस्कृतिक विशेषता है। लौकिक जीवन की अनेकरूपता, चहल-पहल, हास-विनोद, वैयक्तिक सुख-दुःख, घृणा-द्वेष के लिए आपको और कहीं जाना पड़ेगा। इस साहित्य में तो हमें मनुष्य का सबसे अधिक दृढ़ ईश्वर-विश्वास मिलेगा। तुलसी कहते हैं—

एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास॥

इस विश्वास में केवल बौद्धिक संतोष ही नहीं है, यह आत्मा का पूर्ण समर्पण है। चाहे सगुण काव्य को लें, चाहे निर्गुण को, यह भावना दोनों में एक ही प्रकार ओतप्रोत है। मीरां यदि कहती हैं—

आली री मेरे नैनन बान पड़ी।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन अड़ी॥
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ अपने भवन खड़ी।
कैसे प्रान प्रिया बिन राखूँ, जीवन मूल जड़ी॥
मीरां गिरिधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी।

तो कबीर भी उस प्रियतम के वियोग में तड़पते हुए दिखलाई देते हैं—

रात्यूं सूनी विरहणी ज्यूं बंचौ कूं कुंज।
कबीर अंतर प्रजल्या प्रगट्या बिरहा पुंज॥
बिरह-भुवंगम तन बसै मंत्र न लागै कोइ।
राम वियोगी ना जिवै जिवै त गैर : होइ॥
बिरह जलाई मैं जलो जलती जलहरि जाउँ।
मों देख्याँ जल हरि जलै, संतौ कहाँ बुझाउँ॥

यह अनन्य ईश्वर-प्रेम, यह उच्च कोटि का आध्यात्मिक विरह, यह संसार

की असारता और ऐहिक सुख की क्षणभंगुरता का वर्णन, यह परमात्मा का वात्सल्य और सख्य, यह आत्मा-परमात्मा (राधा-माधव) की केलि— अन्यत्र दुर्लभ है। जिस साहित्य में ऐसा अलौकिक भंडार है उसे किसी भी बात की कुंठा नहीं हो सकती। असंत-संत, दुःख-सुख, संतोष और विराग, तप और संयम, आध्यात्मिक जागरूकता और लौकिक कर्तव्य-निष्ठा, यही सैकड़ों ढंग से काव्य, अनुभूति और साधना के विषय बनाये गये हैं। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि मध्ययुग के इस साहित्य ने अशांति और अधर्म के युग में भी राष्ट्र का मेरुदंड सशक्त बनाये रखा। १००० वर्षों की गुलामी के बाद भी भारत का साधारण कृषक-श्रमिक आज भी दया, क्षमा, प्रेम, सहयोग, त्याग और तपस्या के महत्त्व को जानता है तो यह मध्ययुग के इस साहित्य का ही आभार है। आज भी जनता के विश्वास, चरित्र और संस्कृति के मेरुदंड कबीर, दादू, मीरां, सूर और तुलसी हैं। गीता, भागवत, उपनिषद् और वेदों में वह सब तत्त्व हैं जो इन कवियों के काव्य में मिलते हैं परन्तु यहाँ वे उपदेश मात्र नहीं रह कर अनुभूत सत्य और साधना बन गये हैं। वस्तुतः एक ही सत्य को हमारे कवियों और साधकों ने अपने ढंग पर अलग-अलग देखा है। इसी से वह मौलिकता से चिपटे नहीं रहे। पुष्पदंत का एक श्लोक है—

> असितगिरि समं स्यात् कज्जलं सिंधुपात्रे।
> सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ॥
> लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्।
> तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥

इसी विचार को परवर्ती हिन्दी कवि अनेक ढंग से उपस्थित करते हैं—

> सब धरती कागद करूँ लेखनि सब बनराय।
> सात समुद्र को मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाय ॥
> [कबीर]

जो गिरिपति मसि घोर उदधि में, लै सुरतरु जिन हाथ
ममकृत दोस लिखै बसुधा भर तऊ नहीं मित नाथ ॥

[सूरदास]

अति अपार करता कर करना । बरनि न कोई पावै बरना ॥
सात सरग जौं कागद करई । धरती समुद दुहूँ मसि भरई ॥
जावत जग साखा बन ढ़ाका । जावत केस रोव पंखि पाखा ॥
जावत खेह रेह दुनियाई । मेघ बूँद ह्वै गगन तराई ॥
सब लिखनी कै लिखै संसारा । लिख न जाय मति समुद्र अपारा ॥

[जायसी]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीन हिंदी काव्य में संस्कृत की परम्पराएँ पूर्ण रूप से सुरक्षित हैं। वास्तव में हिंदी के कवियों के सामने संस्कृत और प्राकृत का अपूर्व साहित्य था। उसके प्रभाव से बच कर साहित्य की सृष्टि करना असंभव बात थी। परन्तु फिर भी संतों और भक्त कवियों ने जो कुछ लिखा है वह उनकी अनुभूति का बल पाकर मौलिक ही बन जाता है।

परन्तु अनुभूति का यह मौलिक पक्ष १६०० ई० के बाद अत्यंत शीघ्रता से क्षीण होने लगा। संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुकरण चला और संस्कृत मुक्तक काव्य को आदर्श बना कर दोहे-कवित्त-सवैयों की रचना की एक परम्परा चल पड़ी जो १८५० ई० तक बराबर चलती रही। इस बृहद् कवित्त-सवैया-साहित्य में कवियों की प्रेरणा नितांत लौकिक है और वे परम्परागत विषयों, कवि-रूढ़ियों और अलंकारों का ही प्रयोग करते हैं। इस काव्य-साहित्य में फिर भी बहुत कुछ नवीन है यद्यपि वह हिंदी काव्य-साहित्य को कोई महत्त्व या श्रेय की वस्तु नहीं देता।

आधुनिक हिंदी काव्य

मध्ययुग का समाज अधिकतर धार्मिक था और इस समाज ने हमें भक्तों और संतों का काव्य दिया। गोरखनाथ, कबीर, सूर, तुलसी, मीरां का काव्य हमारे मध्ययुगीन धार्मिक काव्य की सर्वोच्च उड़ान है। मध्ययुग के परवर्ती काल में हमारा समाज रसातल को पहुँच गया था और हमारे कवियों ने शृंगार और वासना के गीतों से साहित्य को भर दिया। १८ वीं शताब्दी तक हमारे समाज में उथल-पुथल बनी रही और हमारे काव्य में एक विलासी और निर्बल देश के स्वर बजते रहे।

अंग्रेज़ आये, ज़माना बदला। मुग़ल-कालीन विलासिता के संरक्षक हिन्दू राष्ट्र नष्ट हो गये परन्तु आधी शताब्दी तक शृंगार रस की धारा उसी तरह बहती रही। उस समय अलंकारों की ऊपरी झनझनाहट और अनुप्रास-यमक के चमत्कार को ही विशेष काव्य-गुण मान लिया गया। आधुनिक कविता का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चंद्र (१८५०-१८८५) से होता है। उन्होंने भक्ति और शृंगार को अपना विषय बनाया परन्तु सामयिक घटनाओं पर पहली रचनाएँ भी लिखीं। इस प्रकार आधुनिक कविता का आरम्भ १८६१ के आस-पास से होता है। भारतेन्दु और उनकी मंडली ने ब्रजभाषा काव्य को नई भूमि देनी चाही परन्तु वे ब्रजभाषा-काव्य में न विषय की मौलिकता ला सके, न शैली की। खड़ीबोली का प्रयोग १८८६ के बाद शुरू हुआ और 'भारतभारती' (मैथिलीशरण गुप्त, १९१३) की रचना तक हम प्रयोगकाल मान सकते हैं। भारतेन्दु के बाद पंडित

बालकृष्ण भट्ट और श्रीधर पाठक ने आधुनिक कविता को आगे बढ़ाया। इस आधुनिक कविता की एक विशेषता यह थी कि वह अपने समय की जन-भावनाओं की उपेक्षा नहीं करती थी। और दूसरी बात यह थी कि उसने प्राकृतिक व्यापारों को आलम्बन के रूप में अपने काव्य का विषय बनाया था।

आधुनिक कविता का नया रूप सन् १६०० से आरम्भ होता है और इस कविता के नायक महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। इस समय हिन्दू समाज अपने प्राचीन गौरव के गीत गाने में मग्न था। रीतिकाल की प्रेम और विलास की कविता से लोग ऊब गये थे। हिन्दू राष्ट्रीयता की लहर देश में व्याप रही थी। इस युग के सबसे सुन्दर कवि मैथिलीशरण गुप्त हैं। उन्होंने १६१२ के लगभग 'भारतभारती' की रचना की और आधुनिक काव्य में इसके द्वारा राष्ट्रीयता की नींव डाली। उनकी अन्य रचनाओं में हमें हिन्दू संगठन और हिन्दू संस्कृति के सुन्दर चित्र मिलते हैं। साकेत, द्वापर, यशोधरा हमारे उन पूर्व पुरुषों के गान हैं जिनकी ओर राष्ट्रीय उत्थान में हमारी दृष्टि गई है। इस युग में हमने पौराणिक आख्यानों को नये ढंग से देखा। हरिऔध ने वियोगिनी राधा की जगह कृष्ण के राष्ट्रीय कार्यों में सहयोग देने वाली सेवाप्राण राधा का चित्रण किया है। १६१२ के लगभग हमारी हिन्दी कविता पर अंग्रेज़ी और बँगला काव्य का प्रभाव पड़ने लगा। इस प्रभाव की रूपरेखा स्थिर होने में देर लगी परन्तु १६१८ में सुमित्रानंदन पंत ने 'वीणा' और 'ग्रंथि' द्वारा और १६२६ में जयशंकर प्रसाद ने 'आँसू' द्वारा इस नये आधुनिक काव्य को विशेष बल दिया। इस काव्य को लोगों ने छायावाद काव्य कहा। इस काव्य में ईश्वर और जीवन के संबंध को लेकर अनेक रहस्यवादी रचनाएँ भी लिखी गई। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, रामकुमार और माखनलाल छायावादी कवियों में अग्रगण्य हैं। इस छायावाद काव्य पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' का प्रभाव था और १६ वीं शताब्दी के अंग्रेजी रोमांटिक

कवियों का अनुकरण भी था। अपना भी बहुत कुछ था। हमारे कवियों ने पहली बार आँखें खोल कर संसार को देखा था।

छायावाद के जन्म और विकास का समय १९०९ ई० से १९३६ ई० तक माना जाता है। १९०९ ई० के लगभग काशी में 'इन्दु' की स्थापना हुई और इस मासिक पत्र में प्रसाद का प्रारंभिक काव्य प्रकाशित हुआ। जिस किसी ने इस नाम का सूत्रपात किया, उसका उद्देश्य व्यंग था। उसे एक नई श्रेणी की कविता से परिचय प्राप्त हुआ जिसमें उसको बंगाल के श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' और अंग्रेजी रोमांटिक कवियों की कविताओं की छाया देखी। बंगला में जिस अर्थ में रहस्यवाद शब्द का प्रयोग हो रहा था, ठीक उसी अर्थ में, परन्तु निश्चय ही व्यंग से, क्योंकि हिंदी कविता बंगाली की नकल समझी जाती थी, 'छायावाद' का प्रयोग हुआ। धीरे-धीरे छायावाद नें बंगाली भावुकता और रहस्यवादी आध्यात्मिकता के साथ अन्य अनेक अंगों का भी विकास किया, परन्तु नाम चलता रहा। अंत में व्यंग का भाव भी दूर हो गया परंतु इसके लिए बहुत समय लगा। अभी हाल तक लंबे बाल, आकाश की ओर ताकती आँखें, अस्पष्ट भावना, कठिन शब्दावली का प्रयोग, सतर्कता रहित उच्छृंखल व्यवहार, अव्यावहारिकता—ये छायावादी कवि के लक्षण समझे जाते थे। उसे कल्पनाजीवी समझा जाता था। १९०९—१० से १९३६ तक अनेक कवियों ने इस काव्यधारा में योग दिया। सामूहिक रूप से इस सारे काव्य का अध्ययन बड़ा रोचक है। यह स्पष्ट है कि इस शताब्दी का पहला दशक बीतते-बीतते छायावाद की धारा ऊपर आने लगी थी। १९००—१० ई० की 'सरस्वती' का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक, गद्यात्मक कविताओं के साथ अंग्रेज़ी के उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिक कवियों की रचनाओं की ओर भी हमारे कवियों का ध्यान जाने लगा था। कूपर, ब्लेक, बाइरन और शेली की कुछ रचनायें इस पहले दशक में अनुवाद के रूप में सामने आईं। परन्तु प्रवृत्ति के रूप में इस धारा का

जन्म १६०६—१० के लगभग ही माना जाना चाहिये। पहली उत्कृष्ट छायावादी रचनायें 'इंदु' (काशी) और 'सरस्वती' (प्रयाग) में ही प्रकाशित हुईं। ये कविताएँ पहले-पहल प्रयोग रूप में ही सामने आईं। पहला प्रकाशित कवितासंग्रह 'कानन-कुसुम' (१६१३) है। १६२६ ई० में 'आँसू' और १६२७ ई० में 'वीणा' के प्रकाशन के साथ इस काव्य-धारा में स्थायित्व आ गया। आगे के दस वर्ष इस धारा के सबसे उत्कृष्ट वर्ष हैं।

छायावाद के तीन पहले महत्त्वपूर्ण कवि जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' हैं। इन कवियों ने जिस समय हिंदी काव्य-क्षेत्र में पदार्पण किया उस समय सारा काव्य द्विवेदीयुग की जड़ता और इतिवृत्तात्मकता से निष्क्रिय और निष्प्राण हो रहा था। यह काव्य मूलतः नैतिकतावादी था। नारी-सौन्दर्य, प्रेम, कल्पना-विलास, जीवन के आनंद का स्वच्छंद प्रकाशन—इनका इस काव्य में जरा भी स्थान नहीं था। श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त के काव्य को छोड़कर उसमें धरा क्या था ? क्रांति का कहीं नाम भी नहीं था। रूढ़ियों और परम्पराओं का समर्थन जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता समझी जाती थी।

परन्तु १६ वीं शताब्दी का अंत होते-होते हिंदी प्रदेश बंगला काव्य से परिचित हो चला था। माइकेल, बिहारीलाल, हेमचंद्र रवीन्द्र हिंदी प्रदेश में पहुँच गए थे। इनमें रवीन्द्रनाथ की कविता पर अंग्रेज़ी स्वच्छंदता-वाद, उपनिषदों के रहस्यवाद, बंगला की भावुकता और वैष्णव भक्ति का प्रभाव था। १६१३ ई० के लगभग उनके काव्य के अनुकरण से ये प्रभाव हिन्दी में आये। परन्तु रवीन्द्रनाथ ने अकेले छायावाद को जन्म दिया, यह कहना अत्युक्ति होगी। शताब्दी के आरंभ से ही अंग्रेज़ी के रोमांटिक कवियों की कविताएँ हिंदी में अनुवादित होने लगी थीं और अंग्रेज़ी की उच्च कक्षाओं में रोमांटिक काव्य पढ़ाया जाने लगा था। नये कवि इससे अपरिचित नहीं रहे थे। पंत द्वारा अंग्रेज़ी रोमांटिक काव्य का प्रभाव मुख्य

रूप से हिंदी में आया। पंत और निराला दोनों रवीन्द्र के काव्य से प्रभावित थे। पंत के 'पल्लव' और निराला की कितनी ही कविताओं में रवीन्द्र के स्वर बोल रहे हैं। निराला ने विवेकानंद के अद्वैत भक्ति के काव्य से भी स्फूर्ति ली। प्रसाद ने रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' के प्रभाव को ग्रहण किया। 'झरना' की कविताएँ प्रमाण हैं। परन्तु उन्होंने इस प्रभाव को शीघ्र ही छोड़ दिया। उर्दू काव्य की व्यंजना-शैली और भावुकता एवं संस्कृत मुक्तकों और आचार्यों की स्थापना से इंगित लेकर उन्होंने अपने लिए एक विशिष्ट काव्य-शैली का निर्माण किया।

केवल एक दशक (१६१०-२०) के भीतर हिंदी काव्य में महान् क्रांति हो गई। जिन लोगों ने इसका सूत्रपात किया वे बंगला या अंग्रेज़ी काव्य के पंडित थे। जितनी शीघ्रता से यह क्रांति हुई उसका उदाहरण इस देश की कविता के इतिहास में मिलना असंभव है। इस क्रांति के कारण पाठक कवियों से बहुत पीछे रह गये। उन्होंने कवि पर अस्पष्टता, छायात्मकता, अनैतिकता और पाश्चात्य काव्य एवं रवीन्द्रनाथ के अन्धानुकरण के सौ तरह के लांछन लगाये। लगभग एक दशक तक यह विरोध चलता रहा। १६३० ई० के लगभग साधारण जनता में यह छायावादी कवि लोकप्रिय हो चुके थे। समीक्षकों ने उनके काव्य में सौन्दर्य का पता लगा लिया था। १६३५-३६ तक हिंदी काव्यजगत पर छायावाद का राज रहा। इसके बाद धीरे-धीरे उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया ने जन्म लिया और प्रगतिवाद की एक नई धारा प्रकाश में आई। 'छायावाद' के अग्रगण्य कवि पंत इसके प्रवर्तक बने।

यह स्पष्ट है कि छायावाद द्विवेदीयुग की काव्य-परंपरा से हट कर एक नई काव्य-परंपरा स्थापित करने में समर्थ हुआ। जितनी बड़ी क्रांति 'छायावाद' काव्य ने की उतनी बड़ी क्रांति हिंदी कविता के किसी भी युग में नहीं हुई थी। भाव, भाषा, शैली, व्यंजना सभी में शतप्रतिशत क्रांति

थी। अंग्रेज़ी और बंगला काव्य के अध्ययन के सहारे, आचार्यों के अभिव्यंजनावाद और उर्दू की व्यंजनात्मक शैली से प्रभावित हो इन नये कवियों ने छाया और प्रकाश के जो नये मार्ग हिंदी कविता में खोले, वे अत्यंत आकर्षक थे। इस नये काव्य में आत्माभिव्यक्ति की ओर अधिक ध्यान दिया गया था। कवि अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को अत्यंत मुखर स्वर में गा उठता। वह जैसे एक ही बार आत्मविभोर हो उठा हो। जहाँ तक दार्शनिक पृष्ठभूमि की बात है, छायावाद ने अद्वैतवाद को अपना आधार बनाया, परंतु अज्ञात सत्ता के प्रति प्रेममिलन और वियोग के गीत भी गाये जिनसे रहस्यवाद की सृष्टि हुई। महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा और निराला की कितनी ही कविताएँ इसी प्रेममूलक अद्वैत पर खड़ी हैं। परंतु जो बात सबसे स्पष्ट थी, वह यह थी कि कवियों ने सौन्दर्य के विषय में एक नई अंतर्दृष्टि विकसित कर ली थी। उन्होंने जिस कलात्मक अनुभूति को अपने काव्य का विषय बनाया वह प्रतिदिन के साधारण जीवन से भिन्न थी। एक प्रकार की अतीन्द्रिय, रहस्यमयी, अशरीर सौन्दर्यनिष्ठा जैसे सारे नये काव्य पर छा गई। प्रकृति और मनुष्य के रागात्मक संबंधों की भी खोज हुई।

हिंदी कवियों का नारी और प्राकृतिक व्यापारों के संबंध में एक अत्यंत संकुचित भाव रहा है। हमारे भक्त कवियों और रीतिकाल के कवियों ने इन काव्य-विषयों की उपेक्षा की है या उन्होंने इन्हें अपने हृदय की उच्छृंखल भावनाओं में रँग कर इनका रूप ही बिगाड़ दिया है। आधुनिक युग के छायावाद काव्य में हम नारी को प्राकृतिक स्थान पर बैठा पाते हैं। वह राष्ट्रशक्ति है। भोग्या-मात्र नहीं। अब हमारे कवि सूर्योदय और सूर्यास्त के सौन्दर्य पर मुग्ध होना सीख गये हैं। उनके भावक्षेत्र का विकास हुआ है।

परंतु इतना ही सब कुछ नहीं था। कविता की अंतरात्मा ही बदल

गई थी। फिर अंतरात्मा के साथ बाह्य कलेवर भी शीघ्रता से बदला। लाक्षणिकता की प्रधानता हो गई। भाषा की अर्थ-शक्ति की गवेषणा हुई। नये-नये प्रतीक खोजे जाने लगे। नये-नये छंदों का निर्माण हुआ।

हम यह मानने को तैयार हैं कि छायावाद की ये विशेषताएँ सम्पूर्णतः मौलिक नहीं हैं। इनमें से कुछ के लिए उसे कबीर, रवीन्द्र या शेली का मुँह जोहना पड़ा है, परंतु धीरे-धीरे इस काव्य ने व्यक्तित्व विकसित कर लिया। कवियों ने धीरे-धीरे कवि-कर्म में कुशलता प्राप्त कर ली और उन्हें लोकप्रियता मिली। परंतु काव्यात्मा और काव्यदेह में ये परिवर्तन कुछ इतनी तेज़ी से हुए कि इसमें समय लगा। जनता इस शतप्रतिशत परिवर्तन के लिए तैयार नहीं थी। हमारी अपनी काव्य-परम्परा इतनी पीछे छूट गई थी कि इस काव्य को समझने के लिए उससे सहारा नहीं लिया जा सकता था। अतः नये मूल्यों का सृजन करना पड़ा। आलोचना के नये मानदंड बने। तब कहीं यह काव्य जनता तक पहुँचा।

परंतु इसमें संदेह नहीं कि इस नई काव्यधारा में बहुत कुछ सचमुच सुन्दर था। अब तक हमारी कविता के विषय कुछ थोड़े ही थे। इस काव्य में नारी, प्रकृति, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन, मानव-मन, सौन्दर्य और कला को पहली बार स्वतंत्र रूप से ग्रहण किया गया। इससे काव्य-भूमि का अत्यंत व्यापक प्रसार हुआ। वस्तुतः इस नई काव्यधारा द्वारा हमारे काव्य में नए मूल्यों और नई भावनाओं का समावेश हुआ। भाषा, शैली, छंद, मूर्तिमत्ता, नाद-सौन्दर्य—सभी क्षेत्रों में नये दृष्टिकोण का प्रयोग सचमुच एक अभूतपूर्व घटना थी। आज की हिंदी कविता छायावाद काव्य की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों को आत्मसात् करके ही आगे बढ़ने में समर्थ हो सकी है।

छायावाद-युग अभी चल रहा है परन्तु नई शक्तियाँ भी क्षेत्र में आ गई हैं। इन शक्तियों में प्रधान शक्ति बच्चन हैं। उन्होंने आधुनिक कविता

को शब्द-जाल के चक्कर से बाहर निकाला है और विद्रोह-भाव-भरे उनके गीत हिंदी क्षेत्र के कोने-कोने में गूँज गए हैं। १९३२ के बाद राष्ट्रीय आन्दोलनों की असफलता ने इस नई काव्य-धारा को अत्यंत लोकप्रिय बना दिया। लोग आत्मघात और आत्मसुख को ही सब कुछ मानने लगे। साथ ही देश में नई राजनैतिक धाराएँ आईं। समाजवादी विचारों ने हमारे कवियों का कंठ-स्वर बदल दिया है और वे रहस्यवाद का आवरण उतार कर मजदूरों और किसानों के संसार में आ गये हैं। आज के कवियों में सबसे प्रधान सुमित्रानंदन पंत हैं। उनकी रचनाएँ इस नये युग की गीता हैं। अपनी नई रचनाओं 'स्वर्णधूलि', 'स्वर्णकिरण', 'युगपथ' और 'उत्तरा' में उन्होंने समाजवाद और मार्क्सवाद के आगे की स्वर्णभूमि की ओर संकेत किया है जहाँ आध्यात्मिक और प्रकृत जीवन का समन्वय हो जाता है। और भी अनेक नये कवि हैं जो अपने को 'प्रगतिवादी' कहते हैं। उन्हें रहस्यवाद, निराशावाद, हालावाद और भोगवाद से रुचि नहीं है। वह कला को जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। वह जन-संस्कृति को आगे बढ़ाने का स्वप्न देख रहे हैं। उनका कहना है कि आज तक का सारा काव्य-साहित्य उच्च वर्गों की उपज है, अतः इसमें उसी वर्ग-विशेष की मनोभूमि मिलती है। नये काव्य के लिए विषय, भाव, शैली, भाषा, छंद सब में नये प्रयोग करने होंगे और इन प्रयोगों के लिए हमें जनता के पास जाना होगा। जनता के लोकगीतों में जो शैलियाँ और जो छंद सुरक्षित हैं, उन्हें साहित्य का शृंगार बनाना होगा। जहाँ तक सिद्धान्त का संबंध है, यह ठीक ही है। हमारे देश की संस्कृति, हमारे देश का साहित्य गंगा की तरह सर्वसुलभ हों, सब की चीज हों तब कहना ही क्या ? परंतु जहाँ प्रगतिवादी लोकगीतों और लोककथाओं को ही सब कुछ मान कर साहित्य की गति कुंठित कर देना चाहते हैं, वहाँ बात कुछ समझ में नहीं आती।

ऊपर जो लिखा गया है, उससे हिंदी कविता की एक संक्षिप्त रूप-

रेखा तैयार हो जाती है। यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी प्राचीन कविता मुख्यतः आध्यात्मिक थी। संत काव्य और भक्तिकाव्य प्राचीन हिंदी कविता के सबसे पुष्ट अंग हैं और निश्चय रूप से इनकी प्रेरणा आध्यात्मिक है। लौकिक काव्य के रूप में रीतिकाव्य हमारे सामने आता है, परंतु उसमें जीवन से सीधा संबंध स्थापित नहीं किया गया है। जीवन को शास्त्रनिधि और प्राचीन काव्यों के भीतर से देखने की एक परम्परा चल पड़ी है। आधुनिक काव्य न तो अध्यात्मवादी है, न शास्त्रधर्मी। वह अपने समय के लोक-जीवन और व्यक्ति के सुखदुख को पूर्णतः पकड़ कर चलना चाहता है। इसी से देश-भक्ति, समाज-नीति, व्यक्तिवाद और सामयिकता के स्वर आधुनिक काव्य की विशेषता हैं। धीरे-धीरे उसका अपना अलग व्यक्तित्व संगठित हो गया है। उसने प्राचीन काव्य से अनेक उपकरण इकट्ठे किये हैं, परंतु उसने प्रेरणा, प्राण और शैली के लिये पश्चिम की ओर भी देखा है। वह जीवन से न पलायन करता है, न उसे अध्यात्माभिमुख कर देना चाहता है। वह उसे पूर्णतः स्वीकार करना और हो सके तो बदलना चाहता है। उसके अपने युग के अनुसार उसके अपने प्रतीक हैं, अपने छंद हैं, अपनी मूर्तिमत्ता है।

भविष्य में क्या होगा, निःसंदिग्ध रूप से यह कहना कठिन है। परंतु आधुनिक हिंदी कविता की गति-विधि देखते हुए यही कहना पड़ता है कि अभी हम उसके बालकाल में ही हैं। १६०० ई० से १६२५ ई० तक का समय भाषा-संस्कार का समय है। वास्तव में द्विवेदीयुग में काव्य कही जाने वाली चीज़ अधिक नहीं है, जो है वह अधिकतर इतिवृत्तात्मक और गद्यात्मक है। केवल मैथिलीशरण गुप्त का काव्य ही काव्य की कोटि में आता है। पंत, निराला और प्रसाद के काव्य में भाषा-संस्कार और छंदों का अन्वेषण भी पर्याप्त मात्रा में है। अब भाषा-शैली और छंदों के क्षेत्र में काफ़ी प्रयोग हो चुके हैं। नये कवि को इन दिशाओं में अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। परंतु अभी कोई ऐसा कवि सामने

नहीं आया है जिसकी वाणी जनता का कंठहार हो। शीघ्र ही ऐसा कवि आयेगा, ऐसी आशा है। भाषा, छंद और शैली के क्षेत्र में जो तैयारी हो चुकी है, वह इसकी सूचक है परंतु वह कवि जब आयेगा तभी हम खड़ीबोली की वास्तविक सामर्थ्य जान सकेंगे। सूरदास और तुलसीदास से ही हम ब्रजभाषा और अवधी की सामर्थ्य को जान सके। लगभग १५०-२०० वर्ष पहले इन भाषाओं में कविता का आरंभ हो चुका था। नामदेव, कबीर, नानक और जायसी की भाषा में चाहे सूर-तुलसी की सुषमा नहीं मिले, परंतु वे न होते तो इन महाकवियों के लिए इतना सुन्दर काव्य उपस्थित करना असंभव ही होता। नये काव्य के संबंध में यही बात कही जा सकती है। अभी खड़ीबोली की कविता को ५० वर्ष भी कहाँ हुए हैं? कौन जानता है कि अगले ५० वर्षों में खड़ीबोली अपनी सूर-तुलसी हमें नहीं देगी? पिछले २०-२२ वर्षों में उसने हमें जो दिया है वह कम नहीं है। नई प्रवृत्तियाँ अनेक दिशाओं में काव्य को आगे बढ़ा रही हैं। इसमें सतर्कता की आवश्यकता है, परन्तु चिंता की कोई बात नहीं है। देश को स्वतंत्रता के साथ खड़ीबोली का काव्य अन्य प्रांतीय भाषाओं और संसार के सम्मुख आया है। बड़ी-बड़ी आशायें हैं। ये आशायें व्यर्थ नहीं जायेंगी। नये काव्य के माध्यम से ही हम अपनी संस्कृति और अपने साहित्य का सबसे सुन्दर उपहार पश्चिम को भेंट करेंगे।

हिंदी कविता का आदि युग

६५७ ई० में हर्ष की मृत्यु के साथ ही भारतीय साम्राज्य की परम्परा का नाश हो गया। मगध के मुखारी और गुप्त शासक राजनैतिक शक्ति के लिए झगड़ने लगे। इसी समय अरब में एक नई धार्मिक और राजनैतिक शक्ति का उदय हुआ। यह शक्ति मुसलमानों की थी। ८ वीं शताब्दी में इस शक्ति का परिचय भारतवर्ष को हो गया था, परन्तु हिंदी प्रदेश में यह नवीन मुसलमान शक्ति १३ वीं शताब्दी में आई। ७११ ई० में मुहम्मद बिन क़ासिम ने आलोर पर विजय प्राप्त की और अगले ही वर्ष (७१२ ई०) मुलतान सूफ़ी संतों का अड्डा बन गया।

इस समय उत्तरी भारत में अनेक राजपूत राजे थे और भारत की राजनैतिक शक्ति अनेक केन्द्रों में बँट गई थी। इन राजों में परस्पर स्पर्द्धा चलती और ज़रा-ज़रा सी बात पर बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हो जातीं। हर्ष की राजधानी कन्नौज थी और कन्नौज की राजपूत-शक्ति सबसे महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी। ८ वीं शताब्दी में यशोवर्मदेव कन्नौज का राजा था। भवभूति इसी के राजकवि थे। नवीं शताब्दी के मध्य में कोई केन्द्रीय शक्ति नहीं रह गई थी और सारा देश भिन्न-भिन्न राजवंशों में बँट गया था। ७३६ ई० में दिल्ली में तोमर वंश की नींव पड़ी। अनंगपाल इस वंश का पहला राजा था। ११५१ ई० में अंतिम तोमरराज अनंगपाल के समय में अजमेर के चौहानराज वीसलदेव ने दिल्ली पर चढ़ाई की। अनंगपाल ने अपनी लड़की वीसलदेव के पुत्र सोमेश्वर को विवाही थी। प्रसिद्ध पृथ्वीराज

(राय पिथौरा) इन्हीं सोमेश्वर के पुत्र थे। पृथ्वीराज के समय में दिल्ली और अजमेर दोनों पर चौहान राज करते थे। इस समय मुसलमान राज्य लाहौर पर शासन कर रहा था। अतः पृथ्वीराज को ही मुसलमानों से मोर्चा लेना पड़ा।

उत्तर-पश्चिम भारत में सिंध के उस पार पहला मुसलमान राज्य सुबुक्तगीन के समय (६७७ ई०) में स्थापित हुआ। उस समय पालवंश पंजाब पर शासन कर रहा था और लगभग २५ वर्ष (१०२३ ई०) इस वंश ने मुसलमानों से मोर्चा लिया। इसी वर्ष कन्नौज पर महमूद ग़ज़नवी ने आक्रमण किया। १०२३ ई० से ११८६ ई० तक लाहौर पर ग़ज़नवी वंश का शासन रहा। फिर इस वर्ष ग़ोरी वंश आया। ११६१ ई० को नारायण की लड़ाई में पृथ्वीराज ने मुहम्मद ग़ोरी को हरा दिया, परन्तु दो वर्ष बाद (११६३ ई०) तलावटी की लड़ाई में वह परास्त हुए। अगले कुछ वर्षों में सारा उत्तर भारत मुसलमानों द्वारा विजित हुआ। कन्नौज (११६४), अवध और उत्तर बिहार (११६७), गौड़ और नवद्वीप (११६६)। इस प्रकार १२ वीं शताब्दी के अंत होते-होते उत्तरी भारत अपनी स्वतन्त्रता खो चुका था।

मुसलमानों की विजय के समय उत्तरी भारत में अन्य महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ चंदेल और परमारों की थीं। पृथ्वीराज के समय तक चंदेल स्वतन्त्र रहे। मालवा के परमारों में सब से प्रसिद्ध नाम मुंज (६६३ ई०) और भोज (१०४२ ई०) का है। १२६७ ई० तक मालवा स्वतन्त्र रहा और धार हिन्दू संस्कृति का केन्द्र बना रहा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आदि युग को राजनैतिक दृष्टि से हम दो भागों में बाँट सकते हैं : (१) ७०० ई०—१२०० ई० और (२) १२०० ई०—१४०० ई०। ७०० ई० से १२०० ई० तक देश स्वतन्त्र रहा और राजपूत सभ्यता और संस्कृति का विकास होता रहा। १२०६ ई० में

ग़ुलाम वंश का पहला शासक कुतुबुद्दीन दिल्ली के तख्त पर बैठा। शेष काल में ग़ुलाम वंश (१२०६—१२९०), ख़िलजी वंश (१२९०—१३२०) और तुग़लकवंश (१३२०—१४१२) दिल्ली के सिंहासन पर रहे। इस समय में सारे राजपूताना और मध्यदेश (बुन्देलखंड) को छोड़ कर शेष हिंदी प्रदेश विदेशियों द्वारा शासित रहा।

७०० ई० से १२०० ई० तक बौद्ध धर्म, जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म ही भारतीय जनता के रंगमंच पर रहे। इस युग के साहित्य में इन तीनों धर्मों का ही प्रतिबिम्ब मिलता है। सिद्धकाव्य, बौद्ध धर्म, जैन अपभ्रंश काव्य, जैन धर्म और चारण काव्य ब्राह्मण धर्म की ध्वजा लेकर ही आगे बढ़ते हैं। बौद्ध धर्म के केन्द्र मगध, बंगाल, नैपाल की तराई और पूर्वी हिंदी प्रदेश थे। हिंदी साहित्य में इसका जो रूप सुरक्षित है, वह वज्रयान (८०० ई० —१२०० ई०) कहलाता है। इस समय बौद्ध धर्म तिब्बत में विशेष रूप से फैला और अनेक आचार्य और सिद्ध तिब्बत, नैपाल या भूटान (भोट प्रदेश) से संबन्धित हैं। ११९७ ई० में बख्तियार ख़िलजी ने बौद्धों के केन्द्र नालंदा को भूमिसात् कर दिया और कुछ ही वर्षों बाद भारत से बौद्ध धर्म के चिह्न भी नष्ट हो गये।

जैन धर्म का केन्द्र राजस्थान, गुजरात और दक्षिण भारत था। चोल राजाओं के समय (४०० ई०-७५२ ई०) में दक्षिण में शैव और वैष्णव मतों का प्रचार हुआ और जैन धर्म क्षीण हो कर गुजरात, राजस्थान और मालवा तक सीमित रह गया। जैन साहित्य इन्हीं प्रदेशों से आया।

परन्तु इन ५०० वर्षों के बड़े समय में सारे भारत में शैव और वैष्णव मतों का अत्यन्त तीव्र गति से उत्थान हुआ। पल्लवों (पहली शताब्दी ईसवी - ११ वीं शताब्दी), चालुक्यों (४०० ई०—७५२ ई०) और राष्ट्रकूटों (८ वीं शताब्दी—१२ वीं शताब्दी का अंत) ने इन नये मतों के विकास में विशेष भाग लिया। १३ वीं शताब्दी में यादवों ने ब्राह्मण

मतवाद को बहुत बल दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहली शताब्दी से १३ वीं शताब्दी के अंत तक दक्षिण शैव और ब्राह्मण धर्मों का केन्द्र रहा। उत्तर भारत में बौद्धों के वज्रयान के विरोध में शैव मतवाद का प्रचार गोरखनाथ (१० वीं शताब्दी) ने किया और कदाचित् इसी समय शंकराचार्य ने वैदिक कर्मकांडी धर्म और शैव-वैष्णव भक्ति की उत्तर में प्रतिष्ठा की। उत्तर भारत में जो राजपूत वंश स्थापित हुए उनमें से कुछ दक्षिण से आए थे और उनमें ये मतवाद विशेष रूप से लोकप्रिय हुये। जोधपुर के राठौर राष्ट्रकूट हैं। ११ वीं शताब्दी का कन्नौज का प्रसिद्ध राठौर राजवंश दक्षिण के राष्ट्रकूटों की ही शाखा थी। राष्ट्रकूट शिव और विष्णु के उपासक थे। इलौरा की गुफायें उनके धर्म-सम्बन्धी उत्साह की प्रतीक हैं। ११ वीं शताब्दी के अंत में बंगाल में नवद्वीप में कर्णाटकी सामंत सेन ने एक राज्य स्थापित किया और बाद में इसी दक्षिणी वंश ने मिथिला पर शासन किया। इस प्रकार गौड़, नवद्वीप और मिथिला में ब्राह्मण वंश की जो प्रगति हुई उसका सारा श्रेय दक्षिण को है। इस प्रकार ७०० ई० से १२०० ई० तक के समय को हम दक्षिण के शैव और ब्राह्मण धर्मों की उत्तर विजय का समय कह सकते हैं। हिन्दी साहित्य में इस विजय का इतिहास स्पष्ट नहीं मिलता। हाँ, चारण-साहित्य की शैव और वैष्णव-भावना के विषय में कोई मतभेद नहीं हो सकता और नाथ-साहित्य शैवाद्वैत का ही प्रचारक है। इस सारे युग में हमें कई बड़े-बड़े व्यक्तित्वशाली धर्मप्रवर्तक पंडित और दार्शनिक मिलते हैं—शंकराचार्य (१० वीं शताब्दी), गोरखनाथ (१० वीं शताब्दी), रामानुज (१०१७ -११२०), निम्बार्क (१२ वीं शताब्दी), मध्व (ज० १२३७) और रामानंद (१२९९—१४११)। ज्ञानेश्वर (१२ वीं शताब्दी), नामदेव (ज० १२५० ई०) और रामानन्द के शिष्यों ने इस धारा को नया जन-सुगम्य रूप दिया। इन शिष्यों में सब से प्रसिद्ध कबीरदास (१३९९—१५१८) हैं।

यह स्पष्ट है कि धार्मिक आन्दोलनों की दृष्टि से यह युग अत्यन्त महत्त्व-

पूर्ण था। १२०० ई० में उत्तर भारत में मुसलमान शक्ति की जड़ जम गई, परन्तु धार्मिक आन्दोलनों की प्रगति कम नहीं हुई। अगले दो सौ वर्षों में दक्षिण का वैष्णव धर्म नये संस्कारों के साथ उत्तर में घर-घर में प्रवेश कर गया। इस धार्मिक आन्दोलन में दक्षिण का क्या महत्त्व है, इसका पता इसी से लगता है कि शंकराचार्य चालुक्यों से सम्बन्धित हैं और रामानुज यादवों से। भागवतकार का हमें पता नहीं मिलता, परन्तु भागवतशैली में ही 'लघुभागवतामृत' के रचयिता वोपदेव देवगिरि के यादवों के ही आश्रित थे और वैष्णवधर्म के विकास एवं प्रचार में यादवों का विशेष हाथ है। गौड़राज राजा लक्ष्मणसेन (११६८ ई०—११९९ ई०) के समय में ही जयदेव ने 'गीतगोविन्दम्' की रचना की। इन रचनाओं ने ही परवर्ती कृष्णोपासना और वैष्णवधर्म की रूपरेखायें स्थिर कीं। अतः उनके ऋण को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

१२०० ई० तक शासक धर्म के रूप में इस्लाम का प्रवेश नहीं हुआ था, परन्तु हिन्दी प्रदेश सूफ़ी साधकों और पीरों से परिचित हो चुका था। शेष दो सौ वर्षों में इस्लामी धर्म का व्यापक प्रचार हुआ और सूफ़ी साहित्य के रूप में प्रचारात्मक और भावात्मक गद्य और पद्य हिन्दी में आये।

सामाजिक जीवन और संस्कृति की दृष्टि से भी इन सात सौ वर्षों में महान् परिवर्तन हुए। बौद्ध धर्म के उत्कर्ष के समय वर्णाश्रम की संस्था शिथिल हो गई थी। ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान ने उसे पुनर्जीवित कर दिया। अब की बार यह संस्था और भी बढ़ी, और भी जड़ हो गई। यह युग विशेषतः क्षत्रियों और ब्राह्मणों की प्रधानता का युग था और शूद्र उपेक्षित और अस्पृश्य माने जाने लगे थे। ह्वेनचाँग ने अनेक शूद्र और अस्पृश्य जातियों का वर्णन किया है जो अधिकतः नगर के बाहर रहती थीं। इस प्रकार सामाजिक वैषम्य की नींव दृढ़ हो गई। नये धर्म (इस्लाम) में यह असंतुष्ट अछूत वर्ण ही पहले दीक्षित हुआ। जान पड़ता है बुन-कर हीन समझे जाने लगे थे और उन्होंने असंतुष्ट हो बड़ी संख्या में संस्था-

बद्ध ही इस्लाम कबूल कर लिया। सारे भारत के जुलाहे इसी समय मुसलमान हो गये। इस प्रकार इस युग में ब्राह्मणों की वर्ण संस्था ने जड़ हो कर भारत के पतन का मार्ग खोल दिया। इस समय सारा भारत रक्तगर्व से दूषित था। पिछले युग में विदेशियों द्वारा जो रक्त मिश्रण हो गया था, उसे स्वीकार कर लिया गया, परन्तु नये रक्त-सम्मिश्रण की गुंजाइश नहीं रही।

सारे समाज पर ब्राह्मणों का आधिपत्य स्थापित हो गया था। व्यवस्थापक के रूप में उनकी सत्ता सर्वमान्य थी। कल्पसूत्र और स्मृतियाँ ब्राह्मणों ने ही लिखीं, परन्तु वही राज्य-नियम हो गईं। वास्तव में इस युग में ब्राह्मणों के आचार-विचार अत्यन्त उच्च थे। सारे हिन्दू समाज को वे ही एक सूत्र में बाँधे हुए थे। धर्म, समाज और राज्यव्यवस्था तीनों में वे ही सर्वोच्च थे। अतः क्षत्रियों द्वारा शासित होते हुए भी वास्तव में समाज ब्राह्मणों द्वारा शासित था और धन और शस्त्र के ऊपर शास्त्र की महत्ता स्थापित थी। कालांतर में वर्णव्यवस्था जटिल होती गई। हीन वर्णों में असंतोष बढ़ता गया और ब्राह्मण ऊँचे आदर्श से नीचे गिर गये। राजसूय और अश्वमेध और तीर्थयात्राओं एवं पूजा-उत्सवों का आयोजन कर ब्राह्मणों ने सारे समाज को एक सूत्र में बाँधा। परन्तु बौद्ध-धर्म के ह्रास के बाद बौद्ध-श्रमणों और जैन गच्छों के स्थान पर दंडियों (संन्यासियों) के दल उठ खड़े हुए। कुम्भ जैसे बड़े-बड़े मेलों का आयोजन इन्हीं संन्यासियों और परिव्राजकों ने किया। कभी-कभी ब्राह्मणों और संन्यासियों में स्पर्द्धा भी चलती। इसके कारण देश की शक्ति का ह्रास होता। फिर भी ब्राह्मणों ने वर्णाश्रम संस्था को बहुत विकसित किया और साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में यह युग केवल गुप्त काल के बाद आता है।

निर्गुण साधना और कबीर

वैसे तो निर्गुण रहस्यवादी विचार-धारा के आदि स्रोत उपनिषद् हैं, परन्तु मध्ययुग में बौद्ध शून्यवादियों, सिद्धों और गोरखपंथियों ने इस विचार-धारा को अपने-अपने ढंग पर विकसित किया। शून्यवाद के पहले हिन्दी कवि सिद्ध सरहपाद हैं जिनका समय ७५० ई० के लगभग है। सिद्ध कवियों की परम्परा १२०० ई० तक चली और परवर्ती शैवनाथ पंथ पर उसकी विचार-धारा का व्यापक रूप से प्रभाव पड़ा। शून्यवाद बौद्ध महायान सम्प्रदाय की वह शाखा है जो कहती है कि संसार में सब शून्य है, किसी की भी कोई सत्ता नहीं। दूसरी शाखा विज्ञानवाद का कहना है कि जगत के सारे पदार्थ असत्य हैं परन्तु चित् के निकट फिर भी सत्य हैं। यह सत्य-असत्य आपेक्षिक बात है। १११४ ई० में 'मझयो' (माध्यमिक शास्त्र) लिख कर नागार्जुन ने एक नये मत का प्रवर्तन किया। नागार्जुन 'शून्य-वादी' हैं परन्तु उन्होंने बीच का मार्ग पकड़ कर "अनिर्वचनीयवाद" की स्थापना की। तत्त्व जैसा है वैसा उसका वर्णन करना असम्भव है। वह शून्य है। शून्य ही से सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं और शून्य में ही लीन हो जाते हैं। इस शून्य रूप की अनिर्वचनीय सत्ता की अनुभूति होने के कारण ही बुद्ध तथागत हैं। दृश्य पदार्थ भी शून्य ही है। शरीर भी शून्य ही है। शून्य को न हम सत्य कह सकते हैं, न असत्। सत् और असत् दोनों भ्रम हैं। सापेक्ष गुणों के धीरे-धीरे निराकरण से प्रज्ञा प्राप्त होती है। इसी शून्य

को कबीर ने निर्गुण और सगुण से परे की सत्ता माना है। शंकराचार्य ने बौद्धों के शून्यवाद का विरोध किया और निर्गुण ब्रह्म की स्थापना की, परन्तु वास्तव में 'शून्य' और 'निर्गुणब्रह्म' में विशेष अंतर नहीं है। शंकराचार्य के समय के सम्बन्ध में मतभेद है, परन्तु अधिकांश विद्वान् १०वीं शताब्दी ईसवी से पहले उनकी अवस्थिति मानते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि कबीर के निर्गुण मतवाद को कबीर से पहले विकास के चार-पाँच सौ वर्ष मिल चुके थे। बौद्ध शून्यवाद, औपनैषदिक ब्रह्मवाद या आत्मवाद और शंकराद्वैत में एक समझौता धीरे-धीरे स्थापित हो गया था। गोरखनाथ और अन्य योगियों का साहित्य इस समझौते के बीच की कड़ी उपस्थित करता है।

१००० ई० से १४०० ई० तक गोरखनाथ की विचार-धारा और उनकी साधना का बोल-बाला रहा। सारा भारत योगियों से भर गया था और उनके चमत्कारों की कहानियाँ बलख़-बुख़ारा तक फैल गई थीं। सम्भव है, ईरान की सूफ़ी-धारा पर भी इसका प्रभाव पड़ा हो। ऐतिहासिक अध्ययन से यह पता चलता है कि ७वीं-८वीं शताब्दी में ही योग के कुछ संस्कृत ग्रंथ फ़ारसी में अनूदित हुए थे और इन अनुवादों की परम्परा बराबर चलती रही। गोरखनाथ के बाद भारतीय साधना के क्षेत्र में दो नई और महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ आईं। एक शक्ति सूफ़ी इस्लामी साधकों की थी जिन्होंने लाहौर, मुल्तान, पानीपत, अजमेर और जौनपुर जैसे स्थानों पर केन्द्र बना लिए। दूसरी शक्ति रामानन्द की थी। रामानन्द के समय के सम्बन्ध में मतभेद है परन्तु यदि उन्होंने ही कबीर में राम की ज्योति जगाई तो वह १३५०—१४५० के बीच में अवश्य उपस्थित थे। कहा जाता है कि रामानन्द ने ही द्राविड़ी-भक्ति को उत्तर भारत में पहुँचाया। रामानन्द जाति-वर्ण-भेद नहीं मानते थे और कदाचित् उन्होंने मुसलमानों को भी वहिर्मुख नहीं किया। कबीर स्वयं मुसलमान जुलाहे थे। इन दो शक्तियों के कारण गोरखनाथ के योग का रूप धीरे-धीरे बदलने लगा। जहाँ एक ओर कबीर

और उनके गुरु रामानन्द ने योग को भक्ति-भाव से कोमल बनाया, वहाँ मुसलमान सूफ़ी साधकों ने योग सम्प्रदायों और प्रचलित भक्तिवाद से बहुत कुछ लिया। इस प्रकार एक मिली-जुली सामान्य साधना और विचार-धारा का जन्म हुआ जिसमें योग, सूफ़ीमत, औपनैषदिक निर्गुणवाद (ब्रह्मवाद) और भक्ति का बहुत सुन्दर समन्वय था। इस समन्वय को समझे बिना कबीर के अंतस्तल तक पहुँचना असम्भव है। आलोचकों ने कबीर को या तो अवधूत (योगी) बना दिया है या सूफ़ी (ज़िंद) या ब्रह्मवादी निर्गुणी मात्र, या वैष्णव भक्त। कबीर का व्यक्तित्व जहाँ अध्यात्म साधना के लिए इन सब विचार-धाराओं और साधनाओं को समेट कर चलता है वहाँ उनकी दृष्टि नहीं जाती।

परन्तु कबीर केवल आध्यात्मिक साधक ही नहीं थे—उनकी साधना सारे जीवन, सब आस-पास को समेट कर चलती थी। उन्होंने वर्णगत, जातिगत, समाजगत जो भेद-प्रभेद देखे उसके विरुद्ध उन्हें कुछ कहे बिना नहीं रहा गया। उनकी अंतर्दृष्टि जितनी खुली थी, बाह्यचक्षु भी उतने ही खुले थे। उन्होंने समाज की सारी विषमताओं को ललकारा। रूढ़ियों, परम्पराओं, कर्मकांडों और बाह्याचारों को उन्होंने कड़ी चुनौती दी। उनके व्यंग और ललकार की वाणी में, उनके समाज-सुधार के तेज में उनकी भीतर की एकांत साधना जैसे धीमी पड़ गई, परन्तु बाहर वे जो लड़े, उसे भीतर के भाव का ही तो सहारा था। सारे मध्ययुग में कबीर जैसा चेतन, कबीर जैसा बुतशकन, कबीर जैसा तेजवान् व्यक्ति और कहीं भी नहीं था। उन्होंने सार-मात्र को ग्रहण किया, उन्हें चाहे वह कहीं मिला हो, रूढ़ियों और परम्पराओं की उन्होंने ज़रा भी चिंता नहीं की। सव्यसाची की तरह वह अकेले चारों ओर के प्रहारों को झेलते रहे परन्तु उनकी दीप्ति कम नहीं हुई। वे सचमुच अपने युग के महारथी थे।

कबीर के समय को हम राजनैतिक उथल-पुथल और असहिष्णुता

का युग कह सकते हैं। कबीर की जन्मतिथि १३६८ ई० कही जाती है। इसी वर्ष तैमूर ने आक्रमण किया था और दिल्ली की धरती रक्त से रँग उठी थी। इस आक्रमण ने देश की राजनैतिक स्थिति और भी डाँवाडोल कर दी। मुहम्मद तुग़लक की मृत्यु (१३५१ ई०) के बाद दिल्ली के सिंहासन पर दो पठान वंशों ने राज किया। ये सैयद और लोदी वंश थे। सैयदों के समय में दिल्ली के साम्राज्य की परिधि दिल्ली की चहारदीवारी तक सिमट आई थी। इस समय पंजाब में बहलोल लोदी का शासन था। उसने सरहिंद पर अधिकार कर लिया और कुछ ही समय में वह दिल्ली का शासक बन गया। १४५१ ई० से १५२६ ई० तक लोदी वंश का राज रहा। इस वंश का सब से प्रसिद्ध सुलतान सिकन्दर लोदी (१४८६-१५१७) था जो कबीर का समसामयिक कहा जाता है और किम्बदंतियों द्वारा कबीर के जीवनवृत्त से सम्बन्धित हो गया है।

ऊपर की संक्षिप्त राजनैतिक रूपरेखा से यह स्पष्ट है कि यह युग लगभग अराजकता और राजनैतिक उथल-पुथल का युग है। परन्तु कबीर के काव्य की पृष्ठभूमि के लिए जौनपुर के शियाराज्य के इतिहास को भी जानना आवश्यक है। पूर्वी भारत में सूफ़ी विचार-धारा का प्रचार और विकास इसी शिया-राज्य की छत्रच्छाया में हुआ। जौनपुर के सुल्तान शरक़ी सुल्तान कहलाते हैं। उनका समय १३६४-१४६३ ई० है। जौनपुर नगर को १३५१ ई० के लगभग फ़ीरोज़शाह तुग़लक ने बसाया था। दिल्ली साम्राज्य की दुर्बलता से लाभ उठा कर १३६४ ई० में ख्वाजा जहाँ ने स्वतत्रंता की घोषणा कर दी। धीरे-धीरे इस राज्य की सीमायें पूर्व में बहरायच, गोरखपुर, दोआब और बिहार और पश्चिम में सम्भल तक फैल गईं। शरक़ी बादशाही की राज्य १०० वर्ष से अधिक नहीं रहा, परन्तु उस समय दिल्ली की शक्ति इतनी क्षीण हो गई थी और देश के अन्य भागों में इतनी उथल-पुथल थी कि यही राज्य संस्कृति का केन्द्र बन गया। कबीर के काव्य का विकास इसी शिया-राज्य की उदारता के कारण सम्भव हो

सका। सम्भव है अपने जीवन के अंतिम दिनों में कबीर को अनुदार सिकन्दर लोदी के हाथों से यातना भोगनी पड़ी हो और उन्हें बनारस छोड़ कर मगहर चला जाना पड़ा हो जो उन दिनों भी जुलाहों की बस्ती थी और जो कदाचित् कबीर की जन्मभूमि थी। जौनपुर की सूफ़ी परम्परा के अस्तित्व के बिना कबीर का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है, यद्यपि रामानन्द द्वारा उन्हें बहुत कुछ ऐसा मिला जो सूफ़ी भावना से बहुत कुछ भिन्न नहीं था। मगहर, कालपी, जौनपुर, झूँसी इत्यादि अनेक सूफ़ी केन्द्र इसी समय में विकसित हुए और यहीं अवधी सूफ़ी काव्य की परम्परा का विकास हुआ।

गोरखपुर और उसके आस-पास का प्रदेश नाथपंथी योगियों का उस समय भी बहुत बड़ा केन्द्र रहा होगा। नैपाल में अब भी गोरखनाथ शिव के अवतार माने जाते हैं और गोरखपुर में अब भी योगियों की सबसे बड़ी गद्दी है। मगहर गोरखपुर से १५-१६ मील दूर है। जान पड़ता है, कबीर के समय यह जुलाहों की बस्ती थी और कदाचित् कबीर से एक दो पीढ़ी पहले जुलाहों की बड़ी संख्या मुसलमान बन गई थी। जहाँ पहले इस वंश में जोगियों के आचार-विचार चलते थे वहाँ बाद में यह वंश पीरों और सूफ़ी संतों द्वारा शासित होने लगा। परन्तु योगी विचार-धारा का लोप होना असम्भव था। कदाचित् यही कारण है कि कबीर के साहित्य में योगियों की साधना और तत्सम्बन्धी शब्दावली का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है।

जान पड़ता है किसी कारणवश नीरू-नीमा बनारस में आकर रहने लगे। कबीर इस समय छोटे रहे होंगे। सम्भव है उन्हीं दिनों उन्होंने रामानन्द की कीर्ति सुनी हो और वह उनकी ओर आकर्षित हुए हों। रामानन्द के द्वारा कबीर को वैष्णव परम्परा और वैष्णव भक्ति के सबसे सुन्दर रूप से परिचय हुआ होगा, इसमें संदेह नहीं। इस समय तक वैष्णव

भक्ति का काफ़ी विकास हो चुका था। भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तक रामानुजाचार्य (१०१७-११२०) माने जाते हैं। ये आंध्र थे और तामिल प्रदेश की भक्ति-परम्परा से पूर्णतया परिचित थे। इस भक्ति-परम्परा का सम्बन्ध अलवारों (वैष्णवों) और अडयारों (शैवों) से था। पाँचवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक दक्षिण में वैष्णव और शैव भक्तों की बड़ी मान्यता रही। दसवीं शताब्दी के अंत में अलवारों के गीतों का संकलन (नालायिर प्रबंधम्) नाथ मुनि ने किया। इन गीतों में विरह-प्रधान विह्वल भक्ति के दर्शन होते हैं। रामानुज ने दक्षिण के इस भक्तिपंथ से उत्तर को परिचित कराया। रामानुज के बाद निम्बार्क (१२वीं शताब्दी) और मध्व (१२३७ ई० के लगभग) ने अपनी भक्ति-भावना को कृष्ण पर आश्रित कर उसे अधिक व्यापक रूप दे दिया। रामानन्द (१३५०-१४५०) ने भक्ति-भावना और योगरहस्य की परम्पराओं को एक सूत्र में ग्रथित कर दिया और भक्ति को जातिभेद के ऊपर एक सामान्य मानव धर्म के रूप में स्थापित किया। इस समय तक कृष्ण-भक्ति की धारा काफ़ी विकसित हो चुकी थी और नरसिंह मेहता, विद्यापति और उमापति के गीत उत्तर भारत में गूँजने लगे थे। कबीर इस कृष्ण-भक्ति की धारा से परिचित जान पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने कृष्णकथा और कृष्ण-सम्बन्धी किम्वदंतियों का प्रयोग किया है। सगुण-भक्ति का राम को लेकर चलने वाला रूप भी लोक-प्रियता को प्राप्त कर रहा था। कबीर की दाशरथी राम की भर्त्सना से इस विषय पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है।

यह निश्चित है कि १४३०ई० के लगभग रामानन्द ने बनारस को अपना केन्द्र बना लिया था। उनके शिष्यों के दो वर्ग थे। एक वर्ग साकार राम का उपासक है और दूसरा निर्गुण राम का। जान पड़ता है, जहाँ द्विजातियों के लिए रामानन्द शास्त्रीय वैधी भक्ति और मूर्तिपूजा का उपदेश देते थे, वहाँ हीन वर्णों और मुसलमानों के लिए उन्होंने निर्गुण ब्रह्म राम की तन्मयता प्रधान भक्ति का उपदेश दिया। कबीर इस दूसरी श्रेणी के शिष्यों

में से थे। इस श्रेणी के अन्य शिष्य थे रैदास (चमार), धन्ना (जाट), सेना (नाई), पीपा (राजपूत)। सुरसरी नाम की एक स्त्री भी उनकी शिष्या थी। इनमें से रैदास और कबीर को छोड़कर किसी के नाम से सम्प्रदाय नहीं खड़ा हुआ। कदाचित् इन दोनों ने भी अपने जीवन में किसी सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की परन्तु बाद में उनके व्यक्तित्व को चमत्कारमंडित कर दिया गया और सम्प्रदाय चल पड़े।

रामानन्द के इस श्रेणी के शिष्यों की काफ़ी रचनायें 'आदि ग्रंथ' में मिल जाती हैं जिसका संग्रहकाल १६०४ ई० है। कबीर की रचनाओं से इनकी तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें एक ही प्रकार की भाव-धारा प्रवाहित हो रही है। ये सभी निर्गुणिये हैं। सभी अहैतुक भक्ति को प्रधानता देते हैं, मूर्तिवाद के विरोधी हैं और नामस्मरण को महत्ता देते हैं। इनके काव्य से यह निश्चित हो जाता है कि रामानन्द को ही उत्तर भारत में एक अपूर्व भक्ति-धारा फैलाने का श्रेय है। वे योग-भक्ति, सगुण-निर्गुण मतवादों के संगम पर खड़े थे। उनका झुकाव निर्गुण की ही ओर था। उनके व्यक्तित्व और उनके जाति-पाँत विरोध ने उनके चारों ओर ऐसे व्यक्तियों को इकट्ठा कर दिया जो सभी वर्णों के थे—अधिकांश बहिष्कृत वर्णों के—परन्तु थे बड़े प्रतिभाशाली। इनके व्यक्तित्व और इनकी काव्य-प्रतिभा ने शीघ्र ही निर्गुण मत को सारे उत्तर भारत का सामान्य मत बना दिया। इन सब में कबीर का व्यक्तित्व ही अधिक आकर्षक है। उनमें रामानन्दी भक्ति तो पूर्ण रूप से विकसित हुई ही है, परन्तु साथ ही योग और सूफ़ी साधनाओं से भी बहुत कुछ ग्रहण किया गया है। रामानन्द के अन्य शिष्यों में सूफ़ी भावना के दर्शन नहीं होते और न वे कबीर की भाँति राम-रहीम की एकता के उपासक, मूर्ति-पूजा विरोधी और हिन्दू-मुसलिम कर्मकांडों के आलोचक हैं। परन्तु कबीर के व्यक्तित्व के ये ही अंग उन्हें युग-पुरुष बना देते हैं।

कबीर और समसामयिक समाज

कबीर की विचारधारा और साधना के दो अंग हैं। एक अंग उनकी वैयक्तिक संपत्ति है और दूसरे का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से है। ये दोनों पक्ष कबीर के अपने व्यक्तित्व के माध्यम से एक केन्द्रविन्दु पर आ जाते हैं। सामान्यतः आध्यात्मिक साधक अपनी वैयक्तिक अनुभूति में डूबे रहते हैं। उन्हें समाज की चिंता नहीं रहती। परन्तु कबीर वैयक्तिक साधना में सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर भी समाज और लोक के प्रति जागरूक रहते हैं। यह जागरूकता हिंदी कवियों में से केवल तुलसीदास में पाई जाती है। इन दोनों कवियों के काव्य में वैयक्तिक साधना लोकमंगल का महान् साधन बन गई है। सूर, मीरां और जायसी प्रथमतः एवं अंततः आध्यात्मिक साधक मात्र हैं। वे अपने से बाहर नहीं देख पाते। परन्तु कबीर जिस अद्वैतभाव की भूमि पर अग्रसर हुए थे वहाँ से देखने पर उन्हें पंडित, ज्ञानी, काज़ी, मुल्ला का व्यवहार आडम्बरपूर्ण एवं व्यर्थ जान पड़ता था। समाजगत अनेक भेद-प्रभेद मूल मानव-भाव को कुंठित करते हैं और इस संकीर्णता के द्वारा मानव-व्यक्तित्व में अनेक प्रकार के असंतुलनों का जन्म होता है। यही विचार कबीर को समसामयिक समाज का कठोर आलोचक बना देता है।

कबीर का युग सामाजिक भेदभाव, रूढ़िवाद और वैषम्य का युग था। जहाँ एक ओर द्विज थे जिनमें वर्णाश्रम की दृष्टि से ब्राह्मण सब से उच्च थे, वहाँ दूसरी ओर छोटी जातियों के लोग थे जिन पर सब हँसते थे।

कबीर इन्हीं छोटी जातियों के प्रतिनिधि थे। जहाँ शास्त्र में ब्राह्मण सब से बड़ा था, वहाँ जुलाहा जाति के इस नये पैग़म्बर को कौन पूछता ? यह ब्राह्मण वर्ग संध्या-स्नान-गायित्री को ही सब कुछ समझता था। उसने वेद-स्मृति की शृंखलाओं से सारे समाज को जकड़ रखा था। सूतक-पातक के विचार से सारा जीवन इतना कुंठित हो गया था कि स्वतंत्र-चेता व्यक्ति के लिए कुछ भी करना असम्भव था। ये सब फाँसने की विधियाँ थीं। छूटने की विधि कोई नहीं बताता था। ब्राह्मणों ने श्राद्ध और बलि को ही उच्चतम धर्म समझ रखा था। वे जनता को स्वर्ग-लोक का भुलावा देते थे और नरक-भय दिखलाते थे। मूर्ति पूजा के नाम पर वह स्वयं छप्पन भोग भोगते थे। उन्होंने लोक-व्यवहार और तीर्थव्रत में धर्म की पराकाष्टा समझ रखी थी। वे कदाचित् यह भूल गये थे कि राम इतना भोलाभाला नहीं है कि इस सरलता से बहकाने में आ जाय। उन्होंने प्रसिद्ध कर रखा था कि काशी में मृत्यु प्राप्त होने से मनुष्य सहज में ही मुक्त हो जाता है। इस प्रकार के न जाने कितने ढ़कोसले हिन्दू समाज के धार्मिक बल को क्षीण कर रहे थे। सारा समाज अनेक देवी-देवताओं को पूजता था। अनेक पौराणिक कथायें जनता में लोकप्रिय हो रही थीं। यह स्पष्ट है कि कबीर हिन्दू तत्त्व-चिन्ता से पूर्णतः परिचित नहीं थे। उन्होंने सामान्य जीवन के हीन तत्त्वों पर ही अधिक ध्यान दिया। उच्च-तत्त्व-चिन्ता सब के लिए सुलभ भी नहीं थी। जिस प्रकार का रूढ़िवाद सामान्य जनता में चल रहा था, वह मानव-भाव को छोटा करता था।

जिस तरह विशाल हिन्दू समाज पंडितों और ब्राह्मणों से शासित हो रहा था, जो वेद-पुराण का आश्रय लेकर अपनी सत्ता की धाक जमाये हुए थे, उसी तरह मुसलमान समाजकाज़ी, मुल्ला और .कुरान (कतेब) द्वारा अनुशासित था। मुसलमान अल्लाह को मस्जिद तक ही सीमित समझते थे। कहा जाता था कि अल्लाह पच्छिम में रहता है। रोज़ा-नमाज़ सिजदा,हज, हिंसा (.कुरबानी) ये ही धर्म के तत्त्व मान लिए गए थे। यहाँ

भी वही परिस्थिति थी। जिस तरह हिन्दू धर्म को भूल गये थे उसी तरह मुसलमान दीन को भूल गये थे। कबीर ने इस्लामी धर्म के इस वाह्याचार की निन्दा की और उन्होंने लोगों से बाहर से दृष्टि हटा कर अन्तर्मुख होने को कहा। उनका यह दृष्टिकोण सूफ़ियों द्वारा बहुत पहले से मुसलमानों में प्रचारित था परन्तु कबीर ने अपनी तेजपूर्ण वाणी द्वारा इस तत्व की पुनर्स्थापना की।

परन्तु मुसलमानों का एक वर्ग ऐसा था जो कबीर के सब से निकट था। यह सूफ़ी वर्ग था। कबीर के काव्य में इस वर्ग का स्पष्ट उल्लेख नहीं है परन्तु उनकी सारी साधना अलक्षित रूप से इसी वर्ग के प्रभाव को इंगित करती है। जौनपुर इस समय सूफ़ियों का एक बड़ा केन्द्र था और कदाचित् वहीं के किसी सूफ़ी के सम्बन्ध में लिखते हुए कबीर कितने आत्म-विभोर हो जाते हैं। यह स्पष्ट है कि स्वयं कबीर इसी 'पीताम्बर पीर' की तरह गा-बजा कर हिन्दू-तुरुक में साम्यभाव और प्रेम का प्रचार करते थे। कबीर का सारा साहित्य सूफ़ी-साधना का सार उपस्थित करता है।

और भी अनेक शक्तियाँ उस समय समाज-क्षेत्र में काम कर रही थीं। कबीर ने जोगी, जंगम, वादी, वेदी, सबदी, मोनी, जती, तपी, सोनआसी, लुंजित, मुंजित, जटार, वैष्णव, शाक्त (साकत) इत्यादि अनेक धर्म-साधकों का उल्लेख किया। इनमें से प्रत्येक कहता था कि उसने सिद्धि प्राप्त कर ली है। शाक्तों से कबीर को विशेष रूप से चिढ़ है। वह उन्हें धिक्कारते हुए थकते नहीं। कदाचित् शाक्तों का हिंसाभाव और वामाचार उन्हें पसन्द नहीं था। वह उनकी वैष्णव और सूफ़ी प्रेम-भावना के सर्वथा विपरीत थे। परन्तु अन्य साधकों का अहंभाव भी उन्हें खलता था। पंडितों को पुराण का गर्व था। जोगी ध्यान-धारणा को ही सब कुछ समझते थे। संन्यासी ब्रह्म बन बैठे थे। तपसी तप के घमंड में चूर थे। भक्ति-भाव से किसी को भी काम नहीं था। विनय-भक्ति और दया-क्षमा के महत्त्व को कोई भी नहीं जानता था।

कबीर ने इस आचारहीन वाह्याडम्बरपूर्ण वातावरण को नैतिकता, सत्य और साधना की प्राण-वायु द्वारा स्वच्छ करना चाहा। उन्होंने सभी धर्मों के सार तत्वों को ग्रहण किया और मनुष्य-मात्र की मूल समता की ओर इंगित किया। उन्होंने अपनी रहस्यात्मक अनुभूति में सब धर्मों को एक बिन्दु पर केन्द्रित होते हुए देखा। उनके रहस्यवाद में पूर्व-पश्चिम, हिन्दू-मुसलमान, गृहस्थ और संन्यासी, ब्राह्मण और शूद्र, सैयद और जुलाहे सब मानवता, प्रेम और सद्भाव के समान धरातल पर उतर आये।

परन्तु रहस्यवाद तो कबीर के आभ्यंतरिक व्यक्तित्व का विस्फोट मात्र है, उनके व्यक्तित्व का प्रकाशन एक नई सामाजिकता में भी हुआ है जो उनके युग को देखते हुए काफ़ी क्रान्तिकारी है। कबीर का युग सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में उच्छृंखलता का युग था। एक ओर थे हिन्दू, एक ओर मुसलमान। दोनों के धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न थे। इसीलिए दोनों आपस में झगड़ते थे। उन्होंने दोनों दलों के निर्बल पक्षों को ललकारा और अंतर की सहज एकता का राग गाया।

उन्होंने कहा—

अलहु एक मसीति वसतु है अवरु मुलखु किसु मेरा।
हिन्दू मूरति नाम निवासी दुइ महि ततु न हेरा॥
अलह राम जीवउ तेरे नाईं।
तू करि मिहरामति साईं॥

दखन देस हरि का वासा पछिमि अलह मुकामा।
दिल महि खोजि दिलै दिलि खोजहु एही ठउर मुकामा॥
ब्रह्मन गिआस करहि चउबीसा काजी मह रमजाना।
गिआरह मास पास कै राखै, एकै माहिं निधाना॥
कहा उडीसे मजनु कीआ, किआ मसीति सिरु नाऐ।
दिल महि कपटु निवाज गुजारे किआ हज काबै जाए॥

इस प्रकार उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के विरोध के तत्वों का परिहार कर उनकी समानता की ओर इंगित किया। उन्होंने जहाँ मुसलमानों की हिंसा की निंदा की, वहाँ हिन्दुओं की छुआछूत की भी भर्त्सना की। उन्होंने कहा :

वेद कितेब कहहु मत झूठे झूठा जो न विचारै।
जउ सभ महि एक खुदाइ कहत हउ तउ किउ मुरगी मारै॥
पकरि जीउ आनिआ देह बिनासी माटी कहु बिसमिल कीआ।
जोति सरूप अनाहत लागी कहु हलाल किउ कीआ॥

जहाँ एक ओर क़ाज़ी सारे संसार के जीवों में अल्लाह के नूर का प्रसार मानता है, वहाँ वह हिंसा करते हुए भी संकोच नहीं करता। यह इस्लाम धर्म और पैग़म्बर के उपदेशों की कैसी विडम्बना है! उधर हिन्दू ब्राह्मण वर्ग है जो ब्रह्मवाद को मानता हुआ भी स्पृश्य-अस्पृश्य को मानता है। कबीर का उस से कहना है—

माटी एक अनेक भाँति करि साजी साजनहारै।
ना कछु पोच माटी के भाँड़े ना कछु पोच कुँभारै॥

इस शरीर से, जन्म से, व्यवसाय से—किसी भी भाँति से भी क्या मनुष्य-मनुष्य में भेद हो सकता है? इस शरीर का क्या गर्व? मिट्टी-मिट्टी में भेद कैसा? मध्ययुग में यह बात कितनी क्रान्तिकारी थी आज के साम्यवाद और विश्व-बन्धुत्व के युग में हम नहीं समझ सकते। कबीर की विशेषता यह है कि उन्होंने धार्मिक और सामाजिक वैमनस्य के उस युग में अत्यन्त आत्म-विश्वास के साथ मनुष्य-मनुष्य की समानता की बात उठाई। उन्होंने मनुष्यता की सामान्य भूमि की ओर संकेत किया। उन्होंने वही कहा जो बाद में चंडीदास ने कहा—

सुनहु मानुष भाई।
सवार ऊपर मानूष सत्य ताहार ऊपर नाई॥

उन्होंने कहा—न कोई शूद्र है, न कोई अशूद्र (ब्राह्मण) है। मलेच्छ कौन है ? हिन्दू मुसलमान में क्या भेद हैं ? भेद तो हैं, परन्तु ये भेद ईश्वरकृत नहीं, मनुष्य कृत हैं। अनेक तुच्छ-तुच्छ बातों में मनुष्य व्यापक मनुष्य-धर्म को भूल गया है। वह वाह्याचारों और कुतर्कनाओं के जंजाल में अपनी राह भूल गया है। कबीर निष्ठावान पुरुष थे। वे कुरीतियों और अव्यवस्थाओं से समझौता करने वाले व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने ललकारा—

जो पाथर कउ कहते देव।
ता की बिरथा होवै सेव ॥
जो पाथर की पाई पाइ।
तिस की घाल अजांई जाइ ॥
ठाकुर हमरा सदा बोलता।
सरब जीअ कउ प्रभु दानु देता ॥

मध्ययुग के जातिभेद के युग में उनकी यह आवाज़ कितनी क्रान्तिकारी है :

हिन्दू तुरक का साहिबु एक।
कह करै मुलां कह करै सेख ॥

युग के सत्य को किस कवि ने इतनी तीव्र वाणी दी है :

बुत पूजि पूजि हिन्दू मुए तुरक मुए सिरु नाई।
ओइ ले जाइ ओइ ले गाड़े तेरी गति दुहू न पाई ॥

मन रे संसार अंध गहेरा।
चहु दिस पसरिओ है जम जेवरा ॥

उन्होंने स्पष्ट कहा :

अंतरि मैलु जे तीरथ नावै तिसु बैकुंठु न जाना।
लोक पतीणे कछू न होवै नाहीं रामु अयाना ॥

पूजहु रामु एकु ही देवा ।
साचा नावणु गुर की सेवा ।।
जल कै मंजनि जे गति होई नित नित मेडुक नावहि ।
जैसे मेडुक तैसे ओइ नर फिर-फिर जोनी आवहि ।।

कबीर जैसा जिज्ञासु मूल तत्व को लेकर ही चल सकता है। मनुष्य का सब से बड़ा अभिशाप यह है कि वह मूलतत्व को भुला देता है और निरर्थक वाह्याचारों में खो जाता है। हृदय की शुद्धि के बिना तीर्थ-व्रत, जप-तप से क्या होता है? इस मिट्टी में छूत कैसी? ऐसे वाह्याडम्बरों को धिक्कारते हुए कवि का तेज थकता नहीं। वे जीवन को अत्यन्त व्यापक भावना से देखते है और मनुष्य की संकीर्णता, मनुष्य की दुर्बलता, मनुष्य की वाह्याचारिता उनसे किंचित भी सहन नहीं होती। कबीर मुल्ला-पंडित-सूफी-योगी-हिन्दू-मुसलमान सभी के वाह्याचारों, आडम्बरों और युग-पुरातन रीति-रिवाजों का खंडन कर सारी मानवता को प्रेम और सहानुभूति की भूमि पर उतारते हैं। इसी उत्साह में वे संयम को भूल कर तीक्ष्ण व्यंग भी कर बैठते हैं, जैसे—

हृदै कपटु मुख गिआनी।
झूठे कहा बिलोवसि पानी ।।
काइयां मांजसि कउन गुनां ।
जउ घट भीतरि है मलनां ।।
लउकी अठसठि तीरथ न्हाई ।
कउरापनु तऊ न जाई ।।

परन्तु लक्ष्य यहाँ भी व्यंग नहीं है, मनुष्य-मनुष्य की नितांत समानता और शुद्धाचरण की ओर इशारा है।

इस मनुष्यता की सामान्य भूमि पर ही कबीर ने संतमत को खड़ा किया है जो वास्तव में सामान्य धर्म है। जब मनुष्य-मनुष्य में अंतर नहीं है तो

जिनको वे पूजेंगे उन देवताओं में अन्तर क्यों होगा ? भेद होगा भी तो नाम-मात्र का। वही अल्लाह है, वही राम है, वही ब्रह्मा है, वही आदम है। कबीर सामान्य उपास्य की ओर बढ़ते हुए कहते हैं :

अलहु एकु मसीतु वसतु है अवरु मुलखु किस केरा।
हिन्दू मूरति नाम निवासी दुहू महि ततु न हेरा ॥

अलह राम जीवउ तेरे नाईं।
तू करि मिहरामति साईं ॥

दखन देस हरि का वासा पछिमि अलह मुकामा।
दिल महि खोजि दिलै दिलि खोजहु एही ठउर मुकामा ॥

यह सामान्य धर्म-भाव कबीर ने आँखें खोल कर अपने निजी अनुभवों में प्राप्त किया। समाज में चारों ओर अराजकता फैली हुई थी। प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक धर्म अपनी छोटी-छोटी ढकोसलों की पिटारी ले कर बैठ गया था। मूल मानव-भाव की उसने हत्या कर डाली थी। ऐसे समय में किसी ऐसे मनुष्य की आवश्यकता थी जो मूल तथ्यों की ओर इशारा करता और विशृंखल भारतीय समाज को समन्वय, भ्रातृत्व और प्रेम के सूत्रों में बाँधता। कबीर ने एक नए समाज की कल्पना की जो बाह्य से अधिक आभ्यंतर को देखेगा, जो मनुष्य की सामान्य भावभूमि पर स्थापित होगा। वहाँ हिन्दू नहीं होगा, मुसलमान नहीं होगा, ब्राह्मण-शूद्र काज़ी-मुल्ले, ऊँचे-नीचे, गरीब-अमीर, पापी-पुण्यवान सब का बाध होगा। मनुष्यता की सामान्य भावभूमि पर खड़ी सारी मानवता समान होगी। एक ही धर्म-भाव को चाहे हिन्दू मत, चाहे मुसलमान मत, चाहे कुछ और कहो, चाहे कुछ भी न कहो। इस एक उपास्य को कबीर रहीम-करीम, अल्लाह-राम, ईसा-मूसा— सब कुछ कह देते हैं। तत्त्व एक ही है, तो नामों की विविधता से क्या होता है। तत्त्व-चिंतक को तो तत्त्व को पकड़ना होगा। व्यावहारिकता की भूमि पर सब समान हैं—बाह्याचारों, बाह्याडम्बरों,

निरर्थक रीति-रिवाजों, कर्मकांडों और अनेक भेदोपभेदों ने मानवता को खंड-खंड कर दिया है। यह खंड मानवता फिर अखंडित विश्व-मानवता बन जाये, ऐसा प्रयत्न मध्य युग में कबीर और उनके अनुयायी संतों द्वारा हुआ। मानवता के इतिहासकार इस महान् प्रयत्न को भुला नहीं देंगे, ऐसा विश्वास है। आज भी कबीर और अन्य संतों का सपना कब सत्य हुआ है? आज भी मानवता भीतर-बाहर विभाजित है। और जब तक खंड मानवता अखंड विश्वजनीयता की सिद्धि प्राप्त नहीं कर लेती, तब तक मानवता—चाहे वह पूर्व की हो चाहे पश्चिम की—उससे अनुप्राणित होती रहेगी।

सूरदास और प्रकृति

सूरदास के काव्य-नायक श्रीकृष्ण हैं और ब्रजभूमि उनकी रंगस्थली है। कृष्ण का जन्म, तदनन्तर विकास, इसी ब्रजभूमि में हुआ। मथुरा जाने से पहिले की सारी बाल-किशोर लीलाएँ ब्रज में ही हुईं। अतएव कृष्ण से सम्बन्धित होने से भक्त सूरदास का ब्रजभूमि और उसकी प्रकृति से प्रेम होना आवश्यक था। यह सच है कि कृष्ण मथुरा चले गए। उन्होंने द्वारिका बसाई और हस्तिनापुर, कुरुक्षेत्र आदि अनेक स्थानों की रज को अपने चरण-चिह्नों से अंकित किया, परन्तु सूरदास के कृष्ण का सम्बन्ध केवल गोकुल (ब्रज) तक ही है। उन्हें कृष्ण के तरुण और प्रौढ़ जीवन के प्रति अनुराग नहीं। अतः उनके लिए कृष्ण की लीलाभूमि ब्रज-मात्र है। ब्रज के प्रति सूरदास का प्रेम इन पदों से प्रकट होता है :—

कहाँ सुख ब्रज को सों संसार।
कहाँ सुखद वंशीवट यमुना यह मन सदा विचार॥
कहाँ वनधाम कहाँ राधा संग कहाँ संग ब्रज वाम।
कहाँ रस-रास बीच अन्तर सुख कहाँ नारि तनु ताप॥
कहाँ लता तरु तरु प्रति मूलनि कुंज कुंज वन धाम।
कहाँ विरह सुख बिनु गोपिन संग सूरश्याम मम काम॥

अथवा—

सेहि बसिए ब्रज की बीथिन।
साधुन के पनवारे चुनि चुनि उदरजु भरिए सीतनि॥

पैडे में के बसन बीनि तन छाया परम पुनीतनि।
कुंज कुंज तरु लोटि लोटि रचि रज लागौं रंगी तनि ॥
निसदिन निरखि यसोदा-नन्दन और जमुना जल पीतनि।
दरसन होत सूरतन पावन दरसन मिलन अनीतनि ॥

हिन्दी काव्य में प्रकृति का पहला विशद वर्णन सूर-काव्य में मिलता है। उसके कई कारण हैं। एक तो श्रीकृष्ण की जीवन-लीला का सम्बंध एक ऐसे स्थान से लगा हुआ था जो प्राकृतिक विभूतियों से पूर्ण है। कृष्ण गो-पालक-जाति के बालक हैं; वे अहीर बालक-बालिकाओं में बढ़ते हैं। गो-चारण के लिए यमुना-तट पर जाते हैं; गोप-बालिकाओं से उनका प्रेम-प्रसंग चलता है। यह प्रेम-लीला किसी राज-प्रासाद के निर्जन-प्रांगण में नहीं चलती। ब्रज की प्रकृति का विस्तृत खुला प्रांगण इसके लिए खाली पड़ा है। उसमें यमुना-तट के करील-कुंज, कदम्ब और तमाल के वृक्ष हैं, वीथिका में सघन मधुवन है। प्रकृति राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला में कितनी सहायक होती है, यह बात युगल जोड़ी के प्रेम के विकास का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाती है। इस लीला-क्षेत्र में कृष्ण की लीला के साथ-साथ प्रकृति की जो लीला चला करती है उसे छोड़ कर कोई भी कवि कृष्ण-काव्य की चर्चा नहीं कर सकता था। इसीलिए सूरदास को अपने नायक कृष्ण के जीवन के साथ यमुना, कदम्ब-कुंज, ऋतु-परिवर्तन, दावानल और न जाने प्रकृति के कितने अंग गूँथ देने पड़े।

दूसरे, सूरदास का जीवन स्वयम् प्रकृति के निकट था। उनका अधिकांश जीवन यमुना के तट पर और ब्रजभूमि में ही बीता। उन्होंने ब्रज की सारी भूमि से निकटतम परिचय प्राप्त किया और स्वभावतः वह उनके काव्य का विषय बन गया।

तीसरे, वल्लभाचार्य ने ब्रजभूमि की महत्ता स्थापित कर ही दी थी। उन्होंने श्री नाथ की स्थापना के लिए वही स्थान चुना था। लीला-नायक

कृष्ण का जन्म-स्थान होने के सिवाय वह पुष्टि-मार्गी भक्तों की इष्टदेव-मूर्ति का निवास-स्थान भी था ।

इन सब कारणों ने सूर को ब्रज-प्रकृति को अपने काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान देने के लिए बाधित किया । वास्तव में सूर-काव्य प्रकृति में डूबा हुआ है । कृष्ण का विकास जैसे ब्रज की प्रकृति में होता है उसी प्रकार सूर-साहित्य का विकास भी ब्रज प्रकृति की छाया में ही होता है । ब्रज की प्रकृति ने उन्हें केवल उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के लिए ही सामग्री नहीं दी है वह उनके काव्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित हुई है ।

किन्तु सूरदास ने जिस ब्रज को देखा है उसके दो पहलू हैं । जब तक सूरदास के दृष्टिकोण को हम समझ नहीं लेंगे तब तक हम सूरदास के प्रकृतिवर्णन का सच्चा महत्त्व नहीं ग्रहण कर सकते । सूरदास का ब्रज जहाँ एक ओर हमारे लोक का वह प्रांत है जहाँ जमुना, वृन्दावन, गोवर्धन, मधुवन, करील-कुंज आदि की सत्य सत्ता है वहाँ दूसरी ओर वह हमारे लोक का नहीं भी है । वह लोकोत्तर है । कवि ने उसे स्पष्ट ही नित्य कहा है । वहाँ कुंज, हिंडोर, समीर सभी नित्य हैं । वहाँ बसंत ही बसंत है । अलबत्ता, ब्रज के फूल-बन-डार, मधुकर, नव पल्लव और कोयल को वह नित्य विशेषण से विभूषित नहीं करता, परन्तु इंगित इसी ओर है यह स्पष्ट है । सूरदास के लिए ब्रजभूमि और उसका प्रकृति-व्यापार अलौकिक, अनंत और नित्य हैं जहाँ चित् सत्ता का लीला-व्यापार चलता रहता है । वस्तुतः अनन्त की लीलाभूमि सांत हो ही नहीं सकती ।

यह बात सूरदास की मौलिक कल्पना हो ऐसी बात नहीं । महाप्रभु वल्लभाचार्य ने दर्शन में जिस गोलोक की स्थापना की थी वह दृष्टिकोण इसी का परिणाम है । कृष्ण गोलोकवासी हैं । वह भक्तों के लिए अपने गोलोक की समस्त विभूतियों के साथ पृथ्वी पर अवतार लेते हैं और वह जिस ब्रज में क्रीड़ा-लीला करते हैं वह गोलोक की प्रतिच्छाया ही होती

है। कवि ने व्रजधाम को नित्य बना कर इसी सिद्धान्त की व्यंजना की है, परन्तु यह सूरदास की विशेषता है कि वह अपने प्रतीकों का रूप केवल कुछ ही स्थानों में खोलते हैं। सूफ़ी कवियों की तरह सदैव ही प्रतीकार्थ पुकारते हुए नहीं चलते। इसी से उनका काव्य इतना सहज और सरल है। उन्होंने अपने ग्रंथ में अलौकिक नायक और उसकी अलौकिक लीलाभूमि का वर्णन किया है। परन्तु फिर भी उनका नायक और उसकी लीला-भूमि दोनों हमारे लिए सामान्य हैं। कृष्ण सामान्य गोप हैं। उनकी लीला मानवी है और उनकी लीला-भूमि भी हमारी परिचित ब्रजभूमि ही है।

ब्रजमण्डल की सारी प्रकृति कृष्ण-लीला की पृष्ठभूमि है। ब्रजमण्डल का विस्तार अधिक नहीं है। एक अलौकिक-दिव्य-चरित्र की लीला-भूमि होने के कारण उसमें अनन्त विस्तार की व्यंजना हुई है। भागवत में कृष्ण की इस लीला-भूमि का वर्णन इस प्रकार है :

दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम्।
मही मंगल भूयिष्ठपुर ग्राम ब्रजाकरा॥
नद्यः प्रसन्न सलिला ह्रदा जलरुहाश्रियः।
द्विजालिकुल सन्नादस्तवका वनराजयः॥

यह दसवीं शताब्दी की ब्रज-भूमि का चित्रण है। सूरदास ने इस प्रकार का प्रबन्धात्मक वर्णन उपस्थित नहीं किया परन्तु उनके सम्पूर्ण काव्य के अध्ययन से ब्रजमण्डल की यही छवि हृदय में उतरती है। इसी आनन्दभूमि और उसकी प्रसन्न प्रकृति की छाया में सूर के नायक ने क्रीड़ाएँ की हैं, सूर का अध्ययन करते समय हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये।

सूरदास ने अपने चरित्र-नायक को अलग रख कर उसकी लीलाभूमि का कहीं भी चित्रण नहीं किया है। उनके काव्य में उनके पात्र और ब्रजमण्डल एवं उसकी प्रकृति मिलकर एकात्म हो गए हैं। सूरसागर में

कृष्ण की लीलाओं और गोपियों की विप्रलम्भ-भावना के साथ-साथ प्रकृति के शतशः संश्लिष्ट चित्र उपस्थित होते हैं। इन चित्रों में प्रकृति के अनेक रूप हमें मिलते हैं। अधिकांश रूप कोमल हैं। जिस प्रकार परुष रसों में सूर की वृत्ति नहीं रमती उसी प्रकार प्रकृति के परुष चित्र भी अधिक नहीं दिये गये। उनकी प्रकृति मूलतः कोमल और आनन्दमय है। उसमें आनन्द तत्त्व की प्रधानता इतनी अधिक है कि गोपियाँ वियोगावस्था में उसके आनन्दमय रूप को सहन नहीं कर सकतीं। उनके उलाहना देने पर भी मधुवन के वृक्ष अवश्य हरे ही रहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सूरदास के द्वारा चित्रित की गई ब्रज की प्रकृति भागवत की प्रकृति के समान ही आनन्दमय है। साथ ही वह कोमल और नित्य भी है।

इसी आनन्दमय, नित्य और प्रसन्नवदना प्रकृति में पात्रों की हृदय-भावनाओं के अनुसार थोड़ा परिवर्तन होता रहता है। श्याम के वियोग में गोपियों को उसके सुन्दर फूल अंगारे जैसे लगते हैं, उसमें इन्द्र के भेजे हुए बादल प्रलय की वर्षा करते हैं और दावानल 'झरझराता' हुआ आता है परन्तु इन सभी परिवर्तनों के पीछे ब्रज की प्रकृति अपरिवर्तनशील है यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास उसके आनन्दमय कोमलरूप को ही नित्य मानते हैं। ऐसा लगता है जैसे ब्रज की प्रकृति के मूलतः आनन्दमय रूप में कुछ समय के लिए विकार आ गया है। आनन्दमय की लीलाभूमि और उसकी प्रकृति बीज रूप से निरन्तर आनन्दमय है। ब्रज की प्रकृति की सब से बड़ी महत्ता है कि उसकी गोद में एक अलौकिक चरित्र पल कर बड़ा हुआ है और उसी की अंचल-छाया में उसने क्रीड़ा की है। कृष्ण-लीला का भक्त इस बात को जानता है और इसीलिए वह कहता है—

दुर्लभ जन्म, दुर्लभ वृन्दावन, दुर्लभ प्रेम-तरंग।

यह केवल इसलिए कि वह वृन्दावन की सत्ता को कृष्ण से अलग सत्ताधारी नहीं समझता। एक तो वह कृष्ण की लीला-भूमि है, दूसरे उसने कृष्ण के विकास में यथेष्ट भाग लिया है।

कृष्ण के जन्म और उनकी लीला में साथ देने के कारण अस्पष्ट रूप से ब्रज की प्रकृति का थोड़ा अपना व्यक्तित्व भी विकसित हो गया है। कृष्ण के जन्म लेते ही हम उसे उनकी लीला में साथ देने के लिए तत्पर पाते हैं। रात अधिक अंधेरी हो जाती है, बिजली चमकने लगती है तथा भयंकर वर्षा होने लगती है जो वसुदेव को कृष्ण को गोकुल पहुँचाने में सहायता देती है। प्रकृति की सहकारिता का दूसरा दर्शन हमें राधा-माधव के प्रेम-प्रसंग में मिलता है। घटायें घिर रहीं थीं, बिजली चमक रही थी। नन्द को डर हुआ। उन्होंने राधा को बुलाकर कहा 'श्याम को घर ले जा'। उसी दिन वर्षा-झड़ी में श्याम-श्यामा के हृदय में प्रेम का अंकुर उत्पन्न होता है—

गगन गरजि घहराइ जुरी घटा कारी
पवन झकझोर चपला चमकि चहूँ ओर
सुवन तन चितै नन्द डरत भारी
कह्यो वृषभानु को कुँवरि सो बोलि कै
राधिका कान्ह घर लिये जा री
दोऊ घर जाहु संग नभ भयो
श्याम रंग कुँवर गह्यो वृषभान वारी ॥
गये वन ओर नवल नंद किशोर
नवल राधा नये कुंज भारी ॥
अंग पुलकित भये मदन तिन तन
जपे सूर प्रभु श्याम श्यामा विहारी ॥

इसके बाद तो अनेक अवसर आते हैं जब ब्रज के लता, कुंज और उसकी ऋतुएँ राधा-कृष्ण के मिलने का साधन उपस्थित करती हैं। कृष्णलीला का अधिक भाग गोकुल ग्राम से बाहर कालिन्दी तट पर बसे हुए लता-कुंजों में संपन्न होता है। संयोग-शृंगार के अवसर पर प्रकृति राधा-माधव के आनन्द में वृद्धि करती है। ऋतुओं के परिवर्तन के साथ लीला-प्रसंग का भी परिवर्तन

हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है जैसे कृष्ण की लीला प्रकृति पर ही आश्रित हो। वसंत ऋतु आने पर लीला इस प्रकार चलती है—

सुन्दर संग ललना विहरी, बसन्त सरल ऋतु आयी।
लै लै छरी कुँवरि राधिका, कमल नयन पर धायी॥
द्वादस बन रतनारे देखियत चहुँ दिसि टेसू फूले।
बौरे अँबुआ और द्रुम वेली, मधुकर परिमल भूले॥
सरिता सीतल बहत मंद गति, रवि उत्तर दिसि आयो
प्रेम उमंगि कोकिला बोली बिरहिन विरह जगायो।
ताल-मृदंग, बीन, बाँसुरि, डफ, गावत मधुरी बानी।
देत परस्पर गारि मुदित ह्वै, तरुनी बाल सयानी

उसी लीला का शरद-ऋतु के आगमन पर यह रूप हो जाता है—

शरद निशि देखि हरि हरषि पायो
विपिन वृन्दावन सुभग फूले सुमन
रास रुचि श्याम के मनहिं आयो
परम उज्वल रैनि छिटकि रही
भूमि पर सद्य फल तरुन प्रति लटकि लागे
तैसोइ परम रमणीक यमुना पुलिन
त्रिविधि बहे पवन आनन्द जागे।
राधिका-रमन बन-भवन सुख देखि के,
अधर धरि वेनु सुललित बजाई।
नाम लै लै सकल गोप कन्यान के
सबन के श्रवन वह ध्वनि सुनाई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक ऋतु में कृष्ण-लीला और प्रकृति में विशेष सामंजस्य उपस्थित हो जाता है। सूरदास के लीला-नायक और उनकी लीला को प्रकृति की पृष्ठभूमि से अलग करके देखना कठिन है।

भागवत में यह बात नहीं। वहाँ लीला और प्रकृति में इतना सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया है। भागवत में प्रकृति का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। उसका प्रयोग केवल दो अर्थों में हुआ है। या तो उसका सम्बन्ध कृष्ण-भक्ति से जोड़ा गया है अथवा नीति और दर्शन-ज्ञान के कुछ सिद्धान्तों से। प्रत्येक स्थान पर जहाँ प्रकृति का कुछ परिचय मिलता है, भागवतकार उपदेशक बनना नहीं भूला है। वस्तुतः सूरसागर का वह अंग जिसमें प्रकृति का चित्रण हुआ है पूर्णतः मौलिक है। सूरदास का प्रयोजन कृष्ण की लीला-भूमि और प्रकृति का वर्णन है। उन्हें नीति और दर्शन से थोड़ा भी लगाव नहीं। उन्होंने प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रों को नीति और दर्शन के आघात से खण्डित नहीं किया है। सूर का हृदय प्रकृति की ओर नैसर्गिक रूप से जाता है। उन्हें दर्शन, नीति और धर्म के माध्यम की आवश्यकता नहीं। सूर की राधा और यशोदा की तरह सूर की प्रकृति भी संयोग में पूर्णतः आश्वस्त है और वियोग में उसका रूप अधिक निखर जाता है क्योंकि तब वह हमारे हृदय के अधिक निकट आ जाती है। ब्रज की प्रकृति गोपियों के हृदय का दर्पण है। कृष्ण की उपस्थिति और अनुपस्थिति का प्रभाव जिस प्रकार गोपियों पर पड़ता है उसी प्रकार ब्रज की प्रकृति पर भी। सूर की संयोग-लीलाएँ प्रकृति के इतनी निकट हुई हैं कि यदि ऐसा न होता तो हमें आश्चर्य होता। इसके साथ ही ब्रज की प्रकृति अत्यन्त भाव-प्रवण है। जहाँ कृष्ण के वियोग में उसकी यह दशा थी—

नाचत नहीं मोर ता दिन ते बोले न वर्षा काल।
मृग दूबरे तुम्हारे दरश बिनु सुनत न वेणु रसाल।
वृन्दावन हर्यो होत न भावत देखो श्याम तमाल।

वहाँ कृष्ण का संदेश पाते ही—

फूले व्याल दुरे ते प्रगटे पवन पेट भरि खायो।
फूचो यश मूचो को वरणन तेहु तो सब बिसरायो॥

निकसि कंदरा हू ते केहरि शिर पर पूँछ हिलायो।
गह्वर ते गजराज आइ अंग ही सर्व गर्व बढ़ायो॥
ऊँचे वेसि विहंगम भामै शुक वनराइ कहायो।
किलकि किलकि कुल सहित आपने कोकिल मंगल गायो॥

सूर ने प्रकृति के कोमल अंगों का ही चित्रण विशेष रूप से किया है। जहाँ वे कृष्ण की संयोग-लीला का प्रसंग लिखते हैं, वहाँ वे प्रकृति को लीला की भूमि के रूप में देखते हैं। उस समय ऐसा जान पड़ता है जैसे वे स्वयं उस लीला में भाग ले रहे हों और प्रकृति का ऐश्वर्य और कौतुक का खेल उनके सामने ही चल रहा है। परन्तु जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं, सूर प्रकृति को चित्रित करने का अपना दृष्टिकोण बदल देते हैं। वे गोपियों को अपना माध्यम बना लेते हैं और उन्हीं की आँखों से देख कर प्रकृति का चित्रण करते हैं—

ब्रज ते द्वै ऋतु पै न गईं।
ग्रीषम अरु पावस प्रवीन हरि तुम बिनु अधिक भईं।
उरध उसास समीर नयन घन सब जल जोग जुरे।
वरषि प्रगट कीन्हे दुर दादुर हुते जुदूर जुरे।

तथा—

पिक चातक वन बसन न पावहिं वायस बलिहिं न खात।

विप्रलम्भ के उद्दीपन के लिए उन्होंने प्रकृति का चित्रण नहीं किया यद्यपि संयोग-शृंगार के उद्दीपन के लिए उन्होंने सारी संयोग-लीलाओं में प्रकृति को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। विप्रलम्भ में सूर की प्रकृति गोपियों की तरह ही क्षीण, हीन और व्याकुल है। वह रूप-रंग दिखा कर गोपियों के विरह को बढ़ाती नहीं।

अब तक हम देख चुके हैं कि सूरदास के प्रकृति-वर्णन के चित्र अधिकतर कोमल हैं। सूर की प्रकृति स्वयम् कोमलता-निष्ठ और सुन्दरता-प्रिय है।

उनके चरित्र-नायक की लीला का स्वरूप कोमल एवं सुन्दर होने के कारण उनकी वीथिका भी इसी प्रकार की हो सकती थी। परन्तु सूरदास ने अनेक स्थलों पर प्रकृति के कठोर और भयानक चित्र भी उपस्थित किये हैं; उनमें वे पूर्णतः सफल भी हुए हैं। प्रकृति का इस प्रकार का चित्रण केवल प्रसंगवश हुआ है और उससे परोक्ष में कृष्ण के शक्ति और शौर्य की व्यंजना होती है। गोवर्धन की पूजा से अप्रसन्न होकर इन्द्र ने मेघों को बुला कर ब्रज को डुबाने की आज्ञा दी। उस समय सूरदास ने मेघों की भयानक प्रकृति का वर्णन इस प्रकार किया है—

मेघ-दल प्रबल ब्रज लोग देखें
चकित जहँ तहँ भये निरखि बादर
नंद ग्वाल गोपाल डरि गगन पेखें।
ऐसे बादर सजल करत अति महाबल
चलत घहरात करि अंधकाला।
चकृत भये नंद सब महरि चकृत नर-
नारि हरि करत ख्याला।
घटा घनघोर घहरात अररात दररात सररात ब्रज लोग डरपैं।
तड़ित आघात तरात उतपात सुनि नर नारि सकुचि तन प्राण अरपैं

इस चित्र में एक ओर ब्रजनारियों के भयाकुल मनोभावों के द्वारा मेघों की भयंकरता की व्यंजना की गई है और दूसरी ओर श्रुत्यानुप्रास और दीर्घ स्वर की पुनरावृत्ति द्वारा भी यही बात प्रगट की गई है।

ब्रज पर बरसते हुए प्रलय मेघों का वर्णन सूरदास ने इस प्रकार किया है—

बादर घुमड़ि घुमड़ि आये ब्रज पर बरषत
कारे धूमरे घटा अति ही जल।
चपला अति चमचमाति ब्रज जन सब डरडरात
टेरत शिशु पिता मात ब्रज गलबल।
गर्जत ध्वनि प्रलय काल गोकुल भयो अंधकार

चकृत भये ग्वाल बाल घहरत नभ करत चहल।

अथवा—

गिरि पर बरषन आये बादर।
मेघवर्त जलवर्त सैनि सजि आये ले ले आदर।
सलिल अखण्ड धार धर टूटत कियो इन्द्र मन सादर।
मेघ परस्पर इहै कहत हैं धोइ करहु ब्रज खादर।
देखि देखि डरपत ब्रज-बासी अतिहिं भये मन कादर
यहै कहत ब्रज कौन उबारे सुरपति किये निरादर।

तुलसीदास ने 'घन घमंड गरजत नभ घोरा' वाली पंक्ति में जिस कलापूर्ण ढंग से वर्षा की भयंकरता स्पष्ट की थी सूरदास उस कला से अपरिचित नहीं थे। उन्होंने अनुप्रास, कर्ण-कठोर शब्दों और दीर्घावृत्ति वाले छन्दों के प्रयोग के द्वारा प्रलयवर्षा का चित्र सफलता से अंकित किया है—

घटा आई गरजि युवति लई मन लरजि
बीजु चमकति तरजि डरन गाता।
और कोऊ नहीं तुम त्रिभुवन धनी
विकल ह्वै के कही तुमहि नाता।

इसी प्रकार दावानल के प्रसंग में सूरदास ने एक बार फिर प्रकृति के कठोर अंग का चित्रण किया है—

ब्रज के लोग उठे अकुलाइ।
ज्वाला देखि अकाश बराबरि दशहुँ दिशा कहुँ पारि न पाइ॥
झरहरात बन पात गिरत तरु धरणी तरकि तड़ाकि सुनाइ।
जल वर्षत गिरिवर तर बाचे अब कैसे गिरि होत सहाइ॥
लटकि जात ऊरजर द्रुम बेलि पटकत बाँस काँस कुश ताल।
उचटत फर अंगार गगन लौ सूर निरखि ब्रज जन बेहाल॥
भहरात झहरात दावानल आयो
घेरि चहुँ ओर करि शोर अंदोर बन

सूरसागर, स्कंध १०, पद ६८०

धरणि आकाश चहुँ पास छायो ।।
बरत बन बाँस थरहरत कुश कांस फटि
चटकि लट लटकि द्रुमन बायो ।
अति अगिनि झर झार धधकार करि
उचटि अंगार झंझार छायो ।।
बरत बन पात भहरात झहरात अररात
तरु महा धरणी गिरायो ।

—पद ६८२

सूरदास का काव्य शास्त्र का अधिक सहारा नहीं लेता । उन्होंने इस विषय में भागवत का सहारा भी नहीं लिया है । उन्होंने अपने चारों ओर की ब्रज-प्रकृति को देखा है और उसका सूक्ष्म अध्ययन किया है । इस अनुभव के सहारे वे अपनी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं को अत्यन्त सजीव बना सके हैं । उनके इन काव्यांगों में प्रकृति को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है । सूर की उपमाओं का एकदम सामान्य होना उनकी विशेषता है । उन्होंने ब्रज की नित्य-प्रति की प्रचलित वस्तुओं और प्राकृतिक प्रसंगों को हमारे सामने इस प्रकार रख दिया है कि हमें आश्चर्य होता है । इन उपमाओं में परवर्ती शृंगारिक कवियों की उपमाओं की भाँति नागरिकता भी नहीं । ग्राम्य जीवन का जितना प्रयोग सूर के काव्य में हुआ है उतना और कहीं नहीं हुआ । इससे साधारण और नित्य-परिचित उत्प्रेक्षा कहाँ हो सकती है—

मिलि नाचत करत कलोल छिरकत हरद दही ।
मानों वर्षत भादों मास नदी घृत दूध बही ।

इस प्रकार की उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं से सूरदास का काव्य इतना पुष्ट है कि हमें आश्चर्य होता है । सच तो यह है कि ब्रज की प्रकृति ने कृष्ण की बाल और किशोर-लीलाओं के अनेक सुन्दर प्रसंग दिए हैं और प्राकृतिक वनवैभव की चित्रपटी पर ये लीलाएँ और भी अनुरंजक हो उठी हैं ।

तुलसी और रामचरितमानस

रामचरितमानस तुलसी की सर्वश्रेष्ठ रचना है, परन्तु उसका मूल्यांकन कठिन है। उसकी महत्ता के कई कारण हैं। उसकी रचना लोक-भाषा में हुई। यद्यपि इससे पहले भी कबीर और जायसी लोक-भाषा में धार्मिक साहित्य की रचना कर चुके थे, परन्तु तुलसी के ग्रंथ के पहले कोई भी ऐसा ग्रन्थ प्रस्तुत नहीं हुआ था, जिसका पंडितों में सम्मान होता। उस समय जन-समाज से संस्कृत भाषा का अध्ययन-अध्यापन उठ गया था यद्यपि काशी के पंडित अब भी अध्ययन-अध्यापन और प्रचार में उसी का प्रयोग करते थे। वे लोग भाषाओं को हीन समझते थे। इसका फल यह था कि शास्त्रों के आचार-विचार सम्बन्धी उच्च सिद्धांत, धार्मिक भाव और महान् दार्शनिक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में होने के कारण जनता तक पहुँच नहीं पाते थे। संक्षेप में, जनता के पास कोई भी धर्म-पुस्तक नहीं थी जो उसके धर्म-भाव को पुष्ट करती और उसे आदर्श से अनुप्राणित करती। तुलसी ने पहली बार धार्मिक शिक्षा के लिए सामान्य भाषा को अपना माध्यम बनाया। उन्होंने एक ऐसी लोकप्रिय कथा को ही अपना विषय बनाया जिसके पात्र अत्यन्त मानवीय थे परन्तु उन्होंने कहानी के साथ-साथ आचार-विचार एवं नैतिक, सामाजिक और वैयक्तिक आदर्शों को गुम्फित कर दिया और अनियम और उच्छृंखलता में डूबी हुई जनता के सामने सम्यक् व्यवहार का उदाहरण उपस्थित किया।

इसके अतिरिक्त उन्होंने हिन्दू धर्म और दर्शन को अपने समय के अनुसार नया रूप दिया और उसमें नये अर्थ खोज निकाले। उन्होंने हिन्दू उपासना-पद्धति को विस्तार दिया और उसे दार्शनिक वीथिका दी। पुरुष, प्रकृति, जीवात्मा, जगत और माया के सम्बन्ध में उनकी मान्यताओं का आधार वेदांत-दर्शन है परन्तु उन्होंने अन्य दार्शनिक मतवादों से सामंजस्य बिठाने की चेष्टा की। इस प्रकार भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में उनकी सेवाएँ अमूल्य हैं।

परन्तु उन्होंने दार्शनिक विचारों की मीमांसा करने में ही संतोष नहीं कर लिया। उन्होंने यह चेष्टा की कि उनके विचार चाहे कितने ही गम्भीर हों उनकी भाषा-शैली स्पष्ट, प्रसादगुणपूर्ण और चित्रमय हो। कदाचित् सारे भारतीय चिन्तन के इतिहास में ऐसा कोई भी अन्य महान् व्यक्ति नहीं है जिसने साधारण मनुष्य के सामने महान् समस्यायें रखीं और उनका निराकरण उपस्थित किया। तुलसी के काव्य के प्रत्येक पृष्ठ पर दर्शन, धर्म और नीति के कितने ही जगमगाते हीरे बिखरे पड़े हैं।

तुलसी ने जिस समय 'मानस' की रचना की, उस समय जनता में अनाचार का राज्य था। समाज का नैतिक पतन हो चुका था और जन-समाज शृंगार भाव और निष्क्रियता में डूबा हुआ था। सामाजिक नियमों का उल्लंघन साधारण बात थी और विद्रोह के स्वर ऊपर उठ रहे थे। ऐसी जनता के सामने तुलसी ने राम का आदर्श उपस्थित किया। राम मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। वह अनियम में नियम स्थापित करने आये थे। वह आदर्श पुत्र, आदर्श भ्राता, आदर्श पति, आदर्श मित्र, आदर्श राजा और आदर्श शत्रु थे। तुलसीदास ने जिस समय भरत, लक्ष्मण और हनुमान जैसे चरित्रों का निर्माण किया, उस समय वह अपनी चरित्र-चित्रण की शक्ति से प्रभावित हुए होंगे। जीवन की सीमायें निश्चित नहीं की जा सकतीं। उसमें सुन्दर सामंजस्य और प्रेममय व्यवहार का महत्त्वपूर्ण स्थान

है। जो जल अपने तटों को तोड़ कर बाहर नहीं निकल जाता, वही स्वाद में सबसे श्रेष्ठ होता है। तुलसीदास ने एक ऐसे युग को जो अनर्थकारक उच्छृंखलता को तन-मन अर्पण कर चुका था, मर्यादा का संदेश दिया।

तुलसी ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य रामानुज की भाँति अपने युग के अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के विरोध का परिहार करने की चेष्टा की। इसलिए उन्होंने राम और शिव की कहानियों के सूत्रों को अत्यन्त चतुरता से मिला दिया। काशी के शैवों, शाक्तों और वैष्णवों में भयंकर संघर्ष चल रहा था और कभी-कभी रक्तपात भी हो जाता था। समदर्शी ज्ञान-गम्भीर तुलसी पर इस धार्मिक असहिष्णुता का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। इसी से उन्होंने इन सम्प्रदायों में मैत्री-भाव स्थापित करने की चेष्टा की। परन्तु भारत की जनता के लिए तुलसी का प्रसाद राम की भक्ति ही है जिसने सहस्रों अशांत हृदयों को शांति और संतोष का वरदान दिया है। तुलसीदास की शिक्षा थी—राम की शरणागत-वत्सलता में विश्वास। इस विश्वास ने हिंदू-हृदय को पुष्ट और हिंदू आत्मा को जाग्रत रखा और इसके लिए ऋषि और कवि तुलसीदास हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। वह न होते तो हिंदू धर्म कभी का विशृंखल हो गया होता।

भक्त, दार्शनिक, पंडित, कवि, नीतिज्ञ, समाज सुधारक और विचारक के रूप में तुलसी का व्यक्तित्व अकबर-जहाँगीर युग पर छाया हुआ है, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं। ऐसा बहुव्यक्तित्व-सम्पन्न पुरुष मध्ययुग में कदाचित् कोई नहीं मिलेगा। तुलसी ने उस प्रदेश को कार्यक्षेत्र के रूप में चुना जहाँ निर्गुण राम का प्रचार हो गया था और वहाँ सगुण रामभक्ति की व्यवस्था की। उन्होंने अपनी रामभक्ति को इतना व्यापक, सहिष्णु और उदार रूप दिया कि वह किसी सम्प्रदाय के बन्धन में न आई और स्वतंत्र एवं व्यापक रूप में उसने भक्ति के सब क्षेत्रों में प्रवेश किया। आज

ब्रज, पंजाब, राजस्थान, पूर्वी हिन्दी प्रदेश, दक्षिणी हिन्दी प्रदेश सब में तुलसी की रचनाओं से जनता को भक्ति, नैतिक बल और आचरण-संदेश की प्राप्ति होती है। तुलसी और सूर अकबर-युग के सबसे बड़े कवि हैं। सूर की साधना व्यक्तिगत और अंतर्मुखी है। तुलसी की साधना व्यक्तिनिष्ठ और आभ्यन्तरिक होते हुए भी समाज को दृष्टि में रख कर चली। वह स्वस्थ आत्मा की शरणागत-भावना थी, निर्बल भक्तों का आत्म-समर्पण नहीं, न भगवान की लीलाओं में अपनी रसलम्पट दृष्टि से प्रच्छन्न आनन्द-ग्रहण। तुलसी पौरुष के कवि हैं, महान् व्यक्तित्व के कवि हैं, मर्यादा भाव के कवि हैं। इसी से उनकी एकांत साधना उनके व्यक्तित्व में फूट कर सब की साधना बन गई।

पश्चिम और पूर्व के कृष्ण-भक्तों ने हिन्दू मात्र में कला, प्रेम, स्वप्न और आनन्द भर दिया, तो तुलसी की भक्ति ने उन्हें राम-राज्य की वास्तविकता से परिचित कराया, हनुमान और राम-लक्ष्मण के महान् वीरत्व की टंकार सुना कर जाग्रत-पौरुष बनाया, जीवन के सम्बन्ध में आदर्श भावनाओं का स्थापन किया, भाई को अधिक अच्छा भाई बनने की प्रेरणा दी, पत्नी को सीता का आदर्श बताया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लौकिक जीवन को उच्चतर उठाते हुए तुलसी ने आत्मा को सबल भक्ति भाव के आनन्द और उदात्त उल्लास से परिचित कराया। लौकिक कर्तव्यों का पालन करते हुए, प्राचीन आचारों को निभाते हुए राम, सीता, हनुमान, भरत और लक्ष्मण की ओजस्वी मूर्तियाँ हृदय में स्थापित कर जनता सहे, उठे और आगे बढ़े, यह तुलसी का संदेश था। जो जहाँ है, वह हिन्दू वहीं रहते हुए हिन्दू धर्म का सैनिक बन सकता था। तुलसी ने विजयरथ-वर्णन के बहाने उसे नैतिक अस्त्र दिये। मर्यादा, संयम, कर्तव्यनिष्ठा, सामाजिक नियमों का पालन,—इस रास्ते चलता हुआ जनसमाज राम के शौर्य, हनुमान के वीरत्व और लक्ष्मण के प्रचंड पराक्रम से अपने हृदय को भरे। महाराज रामचन्द्र के महान् ऐश्वर्य और रामराज्य की कल्पना

से तुलसी ने जनता को मुग़ल सम्राट् के ऐश्वर्य से आतंकित होने से बचा लिया। अकबर की महान् विजयों के कीर्ति-स्तम्भ जीर्ण हो चुके हैं, परन्तु रामचरितमानस के विराट् देवमन्दिर में सुरक्षित सीता-राम की युगल-मूर्तियाँ आज भी अपनी उस अलौकिक आभा से देदीप्यमान हैं जिसे तुलसी की कल्पना ने मूर्तिमान किया था।

जहाँ तक रामचरितमानस की साहित्यिक सुषमा का संबंध है, यह कथन अतिशयोक्ति नहीं होगा कि हिंदी काव्य का सर्वोच्च उन्मेष हमें इस रचना में मिल जाता है। कथा-सौष्ठव, प्रसंगनिर्वाह, चरित्रचित्रण, रसपूर्ण स्थलों के निरूपण और संवादों के स्वाभाविक विस्तार में तुलसी की जिस साहित्य-प्रतिभा का प्रकाशन हुआ है वह अपूर्व है। काव्यकला की दृष्टि से 'मानस' का अयोध्याकांड एक परिपूर्ण रचना है। इसके पूर्वार्द्ध में साकेत के पात्रों को एक अत्यंत विषम परिस्थिति में से गुज़रना पड़ता है और उनकी संवेदनाओं और आवेगों का बड़ा मार्मिक चित्रण कवि उपस्थित कर सका है। उत्तरार्द्ध में भरत के भक्ति-भाव के माध्यम से स्वयं उसका आत्मपक्ष प्रकाशित हुआ है। दोनों प्रकरणों में तुलसी का कवि पूर्ण रूप से जागरूक है। इसमें संदेह नहीं कि कवि, कलाकार, भक्त और चिंतक का जो समन्वय रामचरितमानस में संभव हो सका है, वह हिंदी काव्य की प्राचीन और अर्वाचीन किसी भी एक रचना में प्राप्य नहीं है।

महाकवि तुलसीदास

तुलसीदास भारतीय साहित्य के जाज्वल्यमान मणि हैं। हिंदी सहित्य को ही लें तो उनका स्थान और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है और वह शीर्ष-स्थान पर विराजमान दिखलाई देते हैं। मध्ययुग के भक्ति-आंदोलन के दो पक्ष थे। एक था मर्यादावादी और दूसरा स्वच्छंदतावादी। एक राम को लेकर चलता था और दूसरा कृष्ण को। तुलसी ने रामभक्ति का आश्रय ग्रहण किया और उसे अपने साहित्य और संगीत का माध्यम बनाया। इसमें संदेह नहीं कि तुलसी के साहित्य में मध्ययुग की रामभक्ति का सबसे सुन्दर और स्वस्थ चित्र उपस्थित है। 'रामचरितमानस' और 'कवितावली' में वे श्रेष्ठ साहित्यिक और कलाकार हैं तो विनय-पत्रिका में इतने ही ऊँचे साधक भी हैं। यह कहना कठिन है कि वे साधक बड़े थे या कवि बड़े। परंतु उनका साहित्य मध्ययुग की कौस्तुभ मणि है, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं।

तुलसी के जीवनवृत्त के संबंध में अभी अनेक प्रवाद चल रहे हैं। जनश्रुति के अनुसार सं० १६८० में श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन उनकी मृत्यु हुई। इस संबंध में एक प्रसिद्ध दोहा है—

संबत सोलह सै असी असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यौ शरीर॥

यदि यह तिथि ठीक मानी जाय तो उनका जन्म संवत् १६०० के लगभग मानना पड़ेगा। इस प्रकार तुलसी का समय विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी हो जाता है।

तुलसी के जन्मस्थान के संबंध में भी अनिश्चय है। पहले इस क्षेत्र में कई स्थान थे। अब केवल राजापुर और सोरों रह गये। विद्वानों का आग्रह राजापुर की ओर ही अधिक है। उनकी जाति-पाँति के संबंध में इतना भ्रम नहीं है। कवितावली के एक छंद में उन्होंने अपने ब्राह्मण होने का संकेत किया है परन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह कौन से ब्राह्मण थे अथवा उनका उपकुल कौन था। माता-पिता के संबंध में भी विशेष ज्ञात नहीं। रहीम के एक कथित दोहे के आधार पर मा का नाम 'हुलसी' कहा जाता है। परन्तु कवितावली के एक उल्लेख से यह स्पष्ट है कि तुलसी के पिता मंगन ब्राह्मण थे। भीख माँग कर वे उदरपूर्ति करते थे। कुछ लोगों का कहना है कि वे पाप की संतान थे अथवा अभुक्त मूल नक्षत्र में उत्पन्न हुए थे जिससे उनके माता-पिता ने उन्हें कुटिल कीट की भाँति त्याग दिया था।

बचपन बड़ी कठिनाई से कटा। घर-घर भीख माँगनी पड़ी। जो टुकड़े कुत्तों के आगे डाल दिये जाते थे उनके लिए भी उन्हें ललचना पड़ता था। चार दाने चना भी मिलना कठिन था। दूध क्या ये मट्ठे को भी तरसते थे। खरी-कोदो का कना खाकर रहते। सभी इनसे घृणा करते। जहाँ जाते दुतकार पड़ती। जान पड़ता है, उन दिनों बालक तुलसी किसी हनुमान-मंदिर से भी संबंधित हो गये थे और मंदिर की भिक्षा पर अपना जीवनयापन करते थे। इसी समय किसी गुरु से उनका परिचय हुआ। वे गुरु कौन थे, इस संबंध में अभी इतिहास मौन है। परन्तु तुलसी ने बार-बार उनका उल्लेख किया है। एक अस्पष्ट उल्लेख के आधार पर गुरु का नाम नरहरि बताया जाता है। जो हो, यह निश्चित है कि किसी स्वजातीय ब्राह्मण ने उन्हें बचपन की दीनावस्था से उबारा

और रामभजन के राजडगर पर चलने को कहा। उन्हीं के यहाँ रह कर तुलसी ने 'नाना पुराण निगमागम' का अध्ययन किया। कदाचित् यह अध्ययन बहुत दिनों तक चलता रहा होगा क्योंकि तुलसी ने रामचरितमानस में अनेक संस्कृत ग्रंथों का सहारा लिया है।

जनश्रुति के अनुसार तुलसी ने रत्नावली नाम की कन्या से विवाह किया था और उससे उन्हें एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति भी हुई थी। वे अपनी पत्नी के प्रति बुरी तरह आसक्त भी थे। कदाचित् सात-आठ वर्ष तक उन्होंने गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत किया और कृषि, बनिज, कथावर्त्ता आदि को अपनी जीविका का साधन बनाया। अंत में अपने मोह के संबंध में कही गई पत्नी की एक उक्ति से मर्माहत होकर वे गृहत्यागी बन गए। बाल्यावस्था में रामभक्ति के जो संस्कार हृदय में जमे थे, वही अब सहसा अंकुरित और पल्लवित हो उठे।

घर छोड़ने पर तुलसी ने अनेक तीर्थस्थानों का भ्रमण किया और सत्संग का लाभ लिया। काशी, प्रयाग और चित्रकूट तो उन्हें अत्यन्त प्रिय रहे परन्तु वह बारिपुर और दिगपुर भी गये जहाँ प्रसिद्ध सीतावट है। सं० १६३१ के लगभग वह काशी आये और कदाचित् यहीं उन्होंने अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'रामचरितमानस' की रचना की। परन्तु रामचरितमानस लिखने के साथ ही तुलसी को सम्मान नहीं मिल गया। जहाँ तक जान पड़ता है यह मालूम होता है कि उन्होंने अपने ग्रंथ को कई वर्ष बाद प्रकाशित किया और काशी के पंडितों ने आरंभ में उनकी इस रचना का बड़ा विरोध किया। काशी को अधिकांश जनता शैव है। कुछ इसलिए भी यह विरोध रहा होगा। इस विरोध के कारण तुलसी कुछ दिनों अयोध्या भी रहे, परन्तु अंत में वे काशी चले आये और अपने जीवन के अंतकाल तक यहीं रहे। धीरे-धीरे उनकी प्रसिद्धि बढ़ी और राजा-महाराजा तक उनका मान करने लगे। कदाचित् उनके जीवन के अंतिम दस वर्ष बड़े दुःख के

दिन थे। काशी में महामारी फैली और तुलसी उसके प्रकोप से पीड़ित हुए। फिर बाहुमूल में असह्य पीड़ा हुई। धीरे-धीरे पीड़ा बढ़ी और अन्य अंगों में फैली। 'बाहुक' लिखकर तुलसी ने भक्तप्रवर हनुमान से रोग-निवारण की प्रार्थना की। विनयपत्रिका और कवितावली में ऐसे अनेक पद हैं जो उनकी इस विषम वेदना को प्रगट करते हैं। कदाचित् इसी रोग ने उनके प्राण लिये।

वैसे तुलसी के नाम से न जाने कितने ग्रंथ सम्बन्धित हैं परन्तु विद्वानों ने उनकी प्रामाणिक रचनाएँ कुछ निश्चित ही मानी हैं। ये हैं रामाज्ञा प्रश्न, रामचरितमानस, पार्वती-मंगल, दोहावली, कवितावली, विनय-पत्रिका, गीतावली, कृष्णगीतावली, जानकीमंगल, नहछू और वैराग्यसंदीपनी। अंतिम दो रचनाओं के सम्बन्ध में अभी संदेह है। कदाचित् ये रचनायें कवि की प्रारंभिक रचनायें हैं। नहछू में राम को लेकर एक छोटे से संस्कार (नख-छेदन) का वर्णन है। वैराग्यसंदीपिनी साधारण रचना है और उसमें संतमत के सिद्धांत लिपिबद्ध हैं। इस अवस्था की अन्य रचनायें रामाज्ञा-प्रश्न और जानकीमंगल हैं। रामाज्ञाप्रश्न शकुन-ग्रन्थ है और जानकी-मंगल में रामविवाह के एक छोटे से प्रसंग को खंडकाव्य का रूप दे दिया गया है। इन रचनाओं में तुलसी का कवि-रूप ही अधिक स्पष्ट है। दस वर्ष बाद 'रामचरितमानस' (१५७४ ई०) में हम उन्हें काव्यप्रतिभा के सर्वोच्च शिखर पर बैठा देखते हैं। परन्तु ज्ञान और भक्ति के समन्वय और मर्यादामार्गी साधना की एक बड़ी सुन्दर रूपरेखा भी हम इस ग्रंथ में पाते हैं। अगले ३४ वर्षों में वे प्रधानतया गीतिकार और साधक हैं। गीतावली, कृष्णगीतावली और विनय-पत्रिका इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण हैं। 'मानस' के बाद तुलसी का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'विनयपत्रिका' ही है। इसमें हमें तुलसी के भक्तहृदय के जैसे स्पष्ट दर्शन होते हैं वह अन्य स्थान पर अलभ्य है। 'मानस' की रचना के बाद तुलसी के लिए कविकर्म गौण हो गया है और उनके जीवन के अंत तक यही परिस्थिति रही है। यह भी

निश्चित है कि तुलसी को पद-रचना की प्रेरणा कदाचित् सूरदास के काव्य से प्राप्त हुई क्योंकि कृष्णगीतावली और विनयपत्रिका में साहित्य के ऐसे अनेक अंग मिलते हैं जो हमें सूरदास के काव्य में सुपरिचित मिलते हैं। राम की बाललीला और विनय दो ऐसे प्रसंग हैं जिनमें तुलसी सूर के प्रकृत क्षेत्र में विचरण कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त कुछ कवित्त-सवैयों और दोहों का मुक्तक साहित्य भी है जिसमें नीति, धर्म और भक्तिभाव पर तुलसी ने अपने विचार प्रगट किये हैं। कभी-कभी उन्होंने अपने सम्बन्ध में भी लिखा है जिससे उनकी कठिनाइयों और उनके सुख-दुख का भी आभास होता है, परंतु यह सब गौण रूप में है। संक्षेप में, तुलसी के साहित्य के सम्बन्ध में यह परिस्थिति है।

यह स्पष्ट है कि तुलसी के साहित्य और उनकी रामभक्तिमयी साधना का केन्द्र रामचरितमानस और विनयपत्रिका ही हैं। इनमें रामचरितमानस ही विशेष लोकप्रिय रहा है। विनयपत्रिका विद्वानों के पठन-पाठन की सामग्री है। इसमें संदेह नहीं कि उसमें कुछ अत्यन्त मार्मिक पद भी हैं परन्तु शेष ग्रन्थ सब के लिए सुबोध नहीं हैं। रामचरितमानस में कथा, साहित्य और भक्ति की ऐसी त्रिवेणी बहती है जो हमें एकदम बहा ले जाती है। उसमें तुलसी ने अपनी सारी शिक्षा-दीक्षा, सारे अध्ययन और मनन, सारे भक्तिभाव को एक ही पात्र में उँड़ेल दिया है। मध्ययुग का कोई भी ग्रंथ उसके समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

साधारणतः हम सब तुलसी की रामकथा से परिचित हैं। इस रामकथा को तुलसी ने पूर्ववर्ती अनेक रामकथाओं के अंगों से पुष्ट किया है। परन्तु उन्होंने रामविवाह जैसा भावुक प्रसंग जोड़ कर और अयोध्याकांड की कथा को मनोवैज्ञानिक और भक्तिपूर्ण विस्तार देकर राम-कथा का रूप ही बदल दिया। राम-कथा की दृष्टि से यही कांड महत्त्वपूर्ण हैं। अन्य कांडों में कथा बहुत संक्षेप में चलती है। लंकाकांड की कथा ही कुछ अधिक

विस्तृत है परन्तु उसमें साहित्यिकता एवं भक्ति की मात्रा बहुत कम है। अयोध्याकांड के बाद 'मानस' का सबसे महत्त्वपूर्ण कांड उत्तरकांड है, परन्तु इसे वस्तुतः 'मानस' का परकथन कहा जा सकता है। उसमें कथा तो लगभग है ही नहीं। कांड का सारा विस्तार भक्ति-ज्ञान एवं निर्गुण-सगुण के विवेचन से भरा हुआ है। अयोध्याकांड यदि 'मानस' का हृदय है, तो उत्तरकांड 'मानस' का मस्तिष्क है।

साधारण मनुष्य को भक्ति-वैराग्य की बातें उतनी नहीं रुचतीं। वह तुलसी के भक्तिभाव, उनके चरित्रों की विशेषताओं, राम की भक्तवत्सलता, लक्ष्मण के भ्रातृभाव, हनुमान के शौर्य, सीता की पतिभक्ति और भरत के भक्ति-भाव पर मुग्ध हो जाता है। छोटे-छोटे प्रसंग उसे चमत्कृत कर देते हैं। रामकथा में ऐसा बहुत कुछ है जो हमारे पारिवारिक और सामाजिक जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है। तुलसी ने उसे मर्यादा और संयम की भित्ति देकर और भी महत्त्वपूर्ण बना दिया है। राम-लक्ष्मण का 'भायप' (भ्रातृत्व) देखते ही बनता है। एक प्रसंग लीजिये। ऋषि विश्वामित्र के साथ दोनों भाई जनकपुर आये हैं। लक्ष्मण चाहते हैं कि नगर देख आयें, परन्तु संकोच के मारे गुरु से नहीं कह पाते। राम छोटे भाई के मन की बात को जानकर बड़ी कुशलता से गुरु से आज्ञा ले लेते हैं :

लखन हृदय लालसा बिसेषी। जाइ जनकपुर आइअ देखी॥
प्रभुभय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं। प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं।
राम अनुज मन की गति जानी। भगत बछलता हियँ हुलसानी॥
परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुरु अनुसासन पाई॥
नाथ लखनु पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच उर प्रगट न कहहीं॥
जौं राउर आयसु मैं पावौं। नगर देखाइ तुरत लै आवौं॥

कैसा शांत वातावरण है, कैसा भ्रातृ प्रेम है, कैसी सहज बुद्धि है गुरु का आदर भी रह गया और भाई का मन भी रह गया। साँझ से पहले ही

दोनों भाई लौट आते हैं। बड़ी सकुचाहट से गुरु के पास आते हैं, उनसे आज्ञा पाकर संध्यावंदन करते हैं। गुरु दोनों को इतिहास-पुराण की अनेक कथायें सुनाते हैं। इस तरह थोड़ी रात बीत जाती है। जब ऋषि शयन करने लगते हैं तो दोनों राजकुमार उनके पैर दबाते हैं। जब ऋषि बराबर सोने का आग्रह करते हैं तो दोनों जाते हैं। फिर राम शयन करते हैं और लक्ष्मण पैर दबाते हैं। राम के आग्रह से उनकी आज्ञा पाकर ही वह शयन करने जाते हैं। प्रातःकाल पहले लक्ष्मण उठते हैं, वह राम को जगाते हैं, फिर दोनों भाई जाकर गुरु की वंदना करते हैं:

सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुर पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥

निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा। सबहीं संध्या बंदनु कीन्हा॥
कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥
मुनिबर सयन कीन्ह तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई॥

× × ×

बार बार मुनि अग्या दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥
चापत चरन लखन उर लाएँ। सभय सप्रेम परम सचु पाएँ॥
पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े धरि उर पद जल जाता॥

उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुन सिखा धुनि कान।
गुरु ते पहिलेहिं जगतपति जागे रामु सुजान॥

ये छोटे-छोटे स्थल हैं जिनमें हमारे व्यक्तिगत जीवन के निर्माण के लिए अनेक संदेश भरे पड़े हैं। तुलसी के एक-एक चरित्र की झाँकी देखिये, मन मुग्ध हो जाता है। भारतीय संस्कृति से सारा रस निचोड़ कर तुलसी ने उसे एक अत्यंत सुन्दर पात्र में हमारे सामने उपस्थित किया है। आदर्श मानवों की एक विशाल चित्रपटी से उन्होंने हिन्दूमात्र के हृदय को अलंकृत कर

दिया है। सीता का यह वधू-रूप क्या आज भी भारतीय नारी के हृदय को छूने में समर्थ नहीं है :

पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभा खानि, सुसील बिनीता ॥
जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई ॥
जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी ॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई ॥
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ ॥
कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं ॥

ऐसे ही आदर्श चरित्रों के कारण तुलसी का काव्य जनमंगल का सब से बड़ा साधन बन सका है। पिछले ३०० वर्षों में वह हिंदू संस्कृति का अभिन्न अंग बन गया है और कोई भी ऐसी समस्या नहीं, जीवन का कोई भी ऐसा पक्ष नहीं जिसका समाधान हमें तुलसी की रचना में न मिल जाता हो। तुलसी की एक छोटी-सी उक्ति भी आज हमारे लिए जीवनमंत्र है।

परन्तु तुलसी के दूसरे आदर्शवादी और सुधारक रूप से उनका भक्त-रूप कहीं बड़ा था। 'विनयपत्रिका' में हमें उनके इस रूप के अत्यंत विशद दर्शन मिलते हैं। राम के प्रति अनन्य विश्वास और आत्मसमर्पण की भावना से तुलसी का उत्तर काव्य ओतप्रोत है। अत्यंत भाव में विभोर होकर वह भगवान से कहते हैं :

जाउँ कहाँ तजि चरण तिहारे।
काको नाम पतितपावन जग केहि अति दीन पियारे ॥
कौने देव बराई बिरदहित हठि हठि अधम उधारे ॥
खग मृग व्याध पषान विटप जड़ यवन कवन सुर तारे ॥
देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया बिबश बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे ॥

आज तीन शताब्दियाँ बीतने पर भी तुलसी की यह पुकार हमें प्रभावित करने में समर्थ है। मध्ययुग के भक्तों और साधकों में वे अप्रतिम हैं। कबीर, सूरदास, दादू और मीराँ के साथ उनका नाम लिया जाता है। परंतु काव्य के क्षेत्र में वह कदाचित् इन सब से बड़े हैं। संभव है, सूरदास के संबंध में यह बात इतनी दृढ़ता से नहीं कही जा सकती हो, परन्तु काव्य के भीतर से लोकमंगल का जैसा सपना तुलसी ने देखा था, वैसा सूरदास ने कब देखा! जर्जर हिंदू मन को उस प्रताड़ना और हीनता के युग में जैसा बल तुलसी ने दिया वही क्या उन्हें श्रेष्ठतर प्रमाणित नहीं करता?

तुलसी की भक्ति

तुलसी का मानस भक्ति-दर्शन है। इसी रूप में उसने लोकप्रियता पाई है। फलतः भक्ति-सम्बन्धी तुलसी के दृष्टिकोण को समझना महत्व की बात है। मानस के आरम्भ में ही तुलसी ने अपने ग्रंथ की इस विशेषता की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। वे कहते हैं —

भनित मोर सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह के बिमल बिबेक॥
एहिं महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥
मंगल भवन अमंगलहारी। उमा-सहित जेहि जपत पुरारी॥
(बाल० १०)

वह प्राकृतजन-गुनगान को काव्य का विषय नहीं मानते। वाणी की सार्थकता यही है कि वह भगवान के पावन चरित्र का मान करे। उनकी रामकथा के पीछे यही दृष्टिकोण है। इसीलिए रामचरितमानस को चरित्र-काव्य नहीं कहा जा सकता।

उत्तर-कांड में ज्ञान-भक्ति की तुलना करते हुए उन्होंने अपने भक्ति-सम्बन्धी दृष्टिकोण को और भी स्पष्ट कर दिया है। मनुष्य जीवन पाकर भक्ति जैसे परम पुरुषार्थ का त्याग कैसे किया जाये? तुलसी कहते हैं —

राम से प्रीतम की प्रीति रहित जीव जाय जियत।
जेहि सुख सुख मानि लेत सुख सो समुझ कियत॥

जहँ जहँ जेहि जोनि जनम महि पताल बियत।
तहँ तहँ तू विषय सुखहिं चहत लहत नियत॥
कत विमोह लट्यो फट्यो गगन मगन सियत।
तुलसी प्रभु सुजस गाइ क्यों न सुधा पियत?

अतः विषय-रस से विरत होना परम धर्म है। परन्तु विरत होकर साधक क्या पथ ग्रहण करे? तुलसी यह तो कह देते हैं कि तत्त्वतः दोनों में भेद नहीं है—

भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरिइ भव संभव खेदा॥
(उत्तर० ११५)

परन्तु वे ज्ञान को कठिन साध्य ही मानते हैं—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।
(उत्तर० ११७)

ज्ञानदीप के जलने में कितनी कठिनाई है यह उन्होंने रूपक द्वारा (उत्तर० ११७-६) स्पष्ट किया है। परन्तु भक्ति स्वल्प साधन से ही प्राप्त हो जाती है। वह तो चिंतामणि है जो स्वयं प्रकाशित है (उत्तर० १२०)। और भी बहुत से कारण हैं जिसमें भक्ति की साधना अपेक्षाकृत अधिक सुलभ है (उत्तर० ११६)। वस्तुतः तुलसी के लिए भक्ति ही एकमात्र सत्य है, मानव-जीवन की एकमात्र सार्थकता है। यह रामभक्ति रामकृपा के बिना उपलब्ध नहीं होती। परन्तु रामकृपा की प्राप्ति के लिए कुछ साधन आवश्यक हैं। पहला साधन है राम के चरणों में अनुरक्ति—

मोह जनित मल लाग विविध विध कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई॥
नयन मलिन पर नारि निरखि मन मलिन विषय संग लागे।
हृदय मलिन वासना मानमद जीव सहज सुख त्यागे॥

पर निंदा सुनि श्रवण मलिन भये वचन दोष पर गाये।
सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरण बिसराये।।
तुलसिदास व्रतदान ज्ञान तप शुद्धि हेतु श्रुति गावै।
राम चरण अनुराग नीर बिनु मल अति नाश न पावै।।
(वि० ८२)

राम के प्रति पूर्ण प्रेम ही रामभक्ति का स्वरूप है। तुलसी ऊँची आवाज़ से घोषित करते हैं—

रामहिं केवल प्रेम पिआरा। जानि लेहु जो जाननि हारा।।
(अयो० १३७)

परन्तु यह प्रेम निष्काम हो—

उमा जोग जप दान तप नाना मख व्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निस्केवल प्रेम।।
(लंका० ११७)

स्वयं राम अपने प्रेम की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।।
सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी।।
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं।।
सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विज पद प्रेम।।

(सुन्दर० ४८)

राम की कृपा-प्राप्ति का मुख्य उपाय है नामस्मरण (भजन)। तुलसी कहते हैं—

सोधौं को जो नाम लाज तें नहिं राख्यो रघुबीर।
कारुनीक बिनु कारन ही हरि हरी सकल भवपीर।।

(वि० १०४)

मन क्रम वचन छाँड़ि चतुराई । भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥
(बाल० २००)

दूसरा साधन है कथा-श्रवण । स्वयं राम कहते हैं—

दूसरि रति मम कथा-प्रसंगा (अरण्य० ३५)

वाल्मीकि कहते हैं—

सुनहु राम अब कहउँ निकेता । जहाँ बसहु सिय लखन समेता ॥
जिन्ह के श्रवण समुद्र समाना । कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ॥
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे । तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे ॥
(अयो० १२८)

उत्तरकांड के अंत में भी तुलसी ने इसी सिद्धान्त की पुष्टि की है—

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहि बिनहिं प्रयास ॥
जे यह कथा निरतंर सुनहिं मानि बिस्वास ॥
(उत्तर० १२६)

एक अन्य साधन है सत्संग, परन्तु हरिकृपा के बिना सत्सगंति की प्राप्ति असम्भव है—

बिनु सतसंग भगति नहिं होई । ते तब मिलै द्रवै जब सोई ॥

एक अन्य स्थान पर तुलसी साधु-संगति को और भी महत्त्व देते हुए कहते हैं—

सेवत साधु द्वैत भय भागे

इसी का दूसरा अंग है असाधु (कुसंग) का त्याग । 'विनयपत्रिका' के एक प्रसिद्ध पद 'जाके प्रिय न राम वैदेही' (वि० १७४) और 'मानस' के बालकांड (दो० २-७) में संत-असंत की विशद व्याख्या है । उत्तरकांड में (उत्तर ६१) तुलसी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि रामकथा संत-समाज से ही प्राप्त होती है ।

परन्तु तुलसी की यह भक्ति केवल भावुकता नहीं है। उसमें मनुष्य के श्रेष्ठतम गुणों का संग्रह है। तुलसी की भक्ति केवल व्यक्तिगत साधना नहीं है। वह परोपकार की भावना से ओतप्रोत है और लोक-कल्याण को लेकर चलती है। अनेक स्थानों पर तुलसी ने यह स्पष्ट कर दिया है। बालकांड में उन्होंने भक्त के चार प्रकार माने हैं—आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। उन्होंने 'ज्ञानी भक्त' को ही सर्वश्रेष्ठ कहा है। 'मानस' में तुलसी का यही ज्ञानी भक्त रूप स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। परन्तु 'विनय-पत्रिका' में उनका आर्त्त भक्त रूप ही अधिक स्पष्ट है। कदाचित यहीं उनकी साधना की परिणति मिलेगी।

'विनयपत्रिका' में हमें साधक तुलसी का एक अत्यन्त पूर्ण चित्र मिल जाता है। जिस तन्मयता और आत्म-विस्मृति के साथ तुलसी ने इन गीतों में अपने आध्यात्मिक उद्‌गार प्रकट किये हैं वह अपूर्व है।

साधना का आरंभ इस विचार से होता है कि संसार दुःखप्रद है। तुलसी कहते हैं—

अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी

(वि० १२१)

विचार करने पर इस संसार की वास्तविकता कुछ और ही दिखलाई पड़ती है—

मैं तोहिं अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकहि मोहिं हरि के बल प्रगट कपट आगार।
देखत ही कमनीय कछू नाहिंन पुनि किए विचार॥
ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार।
तेरे लिए जनम अनेक मैं फिरत न पायो सार।
महा मोह मृग जल सरिता महँ बोरयो हौं बारहिं बार॥

निज हित सुन सठ हठ न करहि जो चहहि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभु के दासन भजि भजिहि जहाँ मदमार॥
(विनय० १८८)

परन्तु संसार की यह भयंकरता वास्तव में भ्रममूलक है। कवि कहता है—

हे हरि यह भ्रम की अधिकाई।
देखत सुनत कहत समुझत संसय संदेह न जाई॥
जो जग मृषा ताप त्रय अनुभव होहिं कहहु केहि लेखे।
कहि न जाइ मृग वारि सत्य भ्रम ते दुख होइ विसेखे॥
सुभग सेज सोवत सपने वारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव कोउ जब लगि आपु न जागै॥
अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी।
सम संतोष दया विवेक ते व्यवहारी सुखकारी॥
(विनय० १२१)

ज्ञानी के लिए यह संसार संतोष, समभाव, दया और विवेक से सुखप्रद बन जाता है। सारा दुःख मन का है। इसी ने भ्रम फैलाया है। वही इन्द्रिय-सुख के पीछे दौड़ता रहा है। इस मन को साधना बड़ा कठिन काम है। इसके आचरण बड़े विचित्र हैं। वस्तुतः यह जीव मोह की रज्जु में बँधा हुआ है। इसी मोह को तत्त्व-चिंतकों ने 'माया' कहा है। यह मोह-शृंखला केवल ईश्वर की कृपा से ही भंग हो सकती है। तुलसी कहते हैं—

हैं श्रुति-विदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरे।
तुलसिदास यहि जीव मोह-रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरे॥
(विनय० १०२)

फलतः भक्त हरि-कृपा की प्राप्ति ही जीवन का अन्यतम ध्येय मानता है।

किन्तु इस हरि कृपा की प्राप्ति के लिए वह क्या करे ? उसके पास तो केवल एक साधन है—वह है राम के चरणों में अनुरक्ति। 'रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै।' (विनय० ८२)। यह रामानुरक्ति ही तुलसी के लिए राजमार्ग है। तुलसी स्पष्ट कहते हैं –

बहुमत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लागत राज डगरो सो।
(विनय० १७३)

विनयपत्रिका में तुलसी इसी 'राजडगर' पर चलते हुए दिखलाई पड़ते हैं। चातक और पपीहे के आदर्श प्रेम को वे रामभक्ति के प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हैं। उनका अन्यतम मंतव्य है—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास।।
(दोहावली २७७)

इस प्रेममार्ग में प्रेमी का अनन्य भाव से आत्म-समर्पण सब से प्रमुख वस्तु है। प्रेमी यह नहीं देखता कि वह अपने प्रेम-पात्र का प्रेम पाने में सफल होगा या असफल। वह किसी भी अवस्था में अपने प्रिय को दोष नहीं देता। बाधायें चाहे प्रियतम की ओर से ही आयें, वह अपने अचल व्रत से डिगता नहीं—

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
बरसि परुस पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिए चतुर चातकहि चूक।।
उपल बरसि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर।।
पबि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि।।
(वही २८१-४)

'मानस' में ही शिव, भरत और हनुमान के रूप में तुलसी ने अनन्य भावाश्रित भक्त का चित्रण किया था। परन्तु इस चित्रण में उनके अपने भक्तिपूर्ण व्यक्तित्व का सम्पूर्ण सामंजस्य रहने पर भी वह बहुत कुछ परोक्ष था। तुलसी की भक्ति-भावना की एक झाँकी मात्र वहाँ अवश्य मिलती है। परन्तु अपनी परवर्ती रचनाओं में तुलसी हमें अपनी साधना के अन्यतम क्षेत्रों से परिचित कराते हैं। आज उनके इस भक्तिपूर्ण व्यक्तित्व को सम्पूर्णतया पकड़ना सम्भव नहीं है। शताब्दियों का व्यवधान बीच में आ जाता है। परन्तु फिर भी जितनी झाँकी हमें उनके भक्त हृदय की मिलती है, उतनी झाँकी ही हमारे लिए बहुत है। वह हमें श्रद्धा से अभिभूत और अपनी विभूति से चमत्कृत कर देती है।

तुलसी के भरत

भरत के चरित्र-चित्रण में तुलसीदास की वृत्ति कदाचित् इसलिए और भी अधिक रमी है कि उन्होंने उसे अपने राम-भक्ति-पूर्ण व्यक्तित्व से पुष्ट किया है। भरत के रूप में तुलसीदास का ही भावना-जगत् हमारे सामने आता है। 'मानस' का कोई भी पात्र इतना मौलिक चित्रित नहीं हुआ जितना भरत। अध्यात्म और वाल्मीकि रामायण में भरत का वर्णन है तो सही, परन्तु गोस्वामीजी के भरत-वर्णन की तुलना में इसका होना न होने के बराबर है। उत्तरार्द्ध अयोध्याकांड के नायक भरत ही हैं और पूर्वार्द्ध का कथा-प्रसंग यद्यपि उन्हें परोक्ष में डाल कर चलता है परन्तु है उन्हीं के निमित्त।

भरत के हृदय का विश्लेषण करने पर हम उसमें लोक-भीरुता, स्नेहार्द्रता, भक्ति और धर्म-प्रवणता का मेल पाते हैं। उनमें भक्ति की प्रतिष्ठा ही सब से मुख्य रूप में हुई है। मानस के सभी पात्र भक्त हैं, परन्तु भरत जैसी भक्ति किसी की भी नहीं है। स्वयं तुलसीदास इस कथन के साक्षी हैं—

भरत सरिस को राम सनेही।
जग जपु राम राम जपु जेही॥

भरत का पहला परिचय हमें दशरथ-निधन के बाद ननिहाल में होता है। इस परिचय-स्वरूप ही हमें उनके भ्रातृ-प्रेम और सरल हृदय के दर्शन होते हैं—उन्हें अपशकुन होते हैं। वह माता-पिता, परिजन और भाइयों की कुशल मनाते हैं, दान करते हैं, विप्रों को भोजन कराते हैं—

अनरथ अवधि अरम्भेउ जब तें। कुसगुन होंहिं भरत कहँ तबतें॥
देखहिं रात भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना॥
बिप्र जेवाइँ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥
माँगहिं हृदय महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥

इस भूमिका के साथ तुलसीदास भरत को कैकेयी के कुचक्रों के बीच उपस्थित करते हैं। अयोध्या में प्रवेश करते हुए भरत का चित्रण उनके भूमिका-स्वरूप परिचय को पुष्ट करता है। कैकेयी के दशरथ-निधन की बात सुनाने पर वह मर्माहत हो जाते हैं, परन्तु अपने लिए राम का वन-गमन सुन कर उनका हृदय आत्मग्लानि से भर जाता है। वह माता को कटु वचन तक कहते हैं। यहाँ रामभक्ति के उत्साह में तुलसीदास उचित सीमा से कुछ आगे बढ़ जाते हैं, परन्तु वास्तव में भरत की प्रतिक्रिया का इससे सुन्दर चित्रण नहीं हो सकता था—

हंस बंसु दशरथु जनकु राम लखन से भाइ।
जननी तू जननी भई विधि सन कछु न बसाइ॥
राम-विरोधी हृदय तें प्रगट कीन्हि विधि मोहिं।
मोहि समान को पातकी बादि कहेउँ कछु तोहिं॥

शत्रुघ्न कुचक्री मंथरा को दंड देते हैं तो भरत दया करके उसे छुड़ा देते हैं—

भरत दयानिधि दीन्ह छुड़ाई।

इसके बाद भरत कौशल्या से मिलते हैं। इस मिलन का जैसा सरस, सतर्क और मनोवैज्ञानिक चित्रण हमें मानस में मिलता है, वैसा अन्य किसी रामकथा-काव्य में प्राप्य नहीं। यहाँ भरत का आत्म-प्रताड़न—

धिग मोहि भयउँ बेनु बन आगी। दुसह दाह दुख दूसन भागी॥

और कौशल्या का स्नेह-वात्सल्य—

मातु भरतु गोद बैठारे। आँसू पोंछि मृदु वचन उचारे॥

दोनों के चरित्रों को ऊँचा उठाने में सफल हुए हैं। भरत कौशल्या को सफाई अवश्य देते हैं कि राम के वनवास में उनका जरा भी

मत नहीं, कदाचित् कुछ उग्र शब्दों में, परन्तु कौशल्या द्वारा कही दो चौपाइयाँ राम-वनवास की राजनीतिक भित्ति को एकदम गिरा देती हैं। यह वह भित्ति है जिसे आदि कवि ने अत्यंत जागरूकता से खड़ा किया है और जिसके आधार पर रामायण-काल की राजनीति का अध्ययन किया जाता है। तुलसी न राम के पिता दशरथ पर किसी प्रकार की लांछना देख सकते हैं, न भरत पर। उन्होंने सारा दोष कैकेयी और मंथरा पर रख दिया है और इसी दृष्टिकोण से भरत द्वारा माता कैकेयी को कटु वचन भी कहला दिया है। यह सब उनके रामभक्ति के उत्साह के कारण हुआ। भरत का चरित्र श्रेष्ठ काव्य और भक्ति की ज्योत्स्ना में नहा कर मानस में इतना चमक उठा है कि कहीं-कहीं, जैसे अयोध्याकांड में, उसने राम के चरित्र को भी ढक लिया है।

अयोध्या के इस प्रसंग के बाद हम भरत को पुरजन-सहित चित्रकूट जाते पाते हैं। इस प्रसंग में भरत का शील हमें मोह लेता है। वे शव-क्रियाकर्म के बाद गुरु-माता की आज्ञा माँगते हैं और जब उन्हें आज्ञा मिलती है—

प्रजा पालि परिजन दुखु हरहू।

तो वे अत्यंत विनम्रता से अपनी बात भी रख देते हैं—

मोहि उपदेसु दीन्ह गुरु नीका। प्रजा सचिव समेत सब ही का॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा॥
गुरु पितु मात स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥
उचित कि अनुचित किएँ विचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥
तुम तौ देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर फल होई॥
जद्यपि यह समुझत हउँ नीके। तदपि होत परितोसु न जीकें॥

इसके बाद का भरत का चित्रण अत्यंत मौलिक है। वह रामभक्ति के प्रतीक के रूप में उपस्थित किये गये हैं। वन-मार्ग में जाते हुए राम से संबंधित प्रत्येक स्थल, प्रत्येक व्यक्ति उनके लिए तीर्थ हो जाता है—

सृंगबेरपुर भरत दीख जब। भे सनेह बस अंग सिथिल तब ॥
रामघाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भा मनु मगनु मिले जनु रामू ॥
जहँ सिंसुपा पुनीत तरु राम किये बिश्रामु।
अति सनेहँ सादर भरत कीन्हेउ दंड प्रनामु ॥

मंथरा की योजना से उनके हृदय में उथल-पुथल है। उत्तरार्द्ध में इस प्रकार का कोई संघर्ष नहीं है। मौलिक संघर्ष के कारण पूर्वार्द्ध वाल्मीकि रामायण में भी उतना ही अच्छा बन पड़ा है, राजनीतिक पृष्ठभूमि के कारण वह महत्त्वपूर्ण भी है। यद्यपि तुलसी की सुन्दर काव्य-कला का वहाँ अभाव है, परन्तु अन्य रामकथाओं में अयोध्याकांड का उत्तरार्द्ध उतना सजीव नहीं बन पड़ा है। वाल्मीकि में भी नहीं। तुलसी ने भरत के व्यक्तित्व को प्रेम विह्वला भक्ति से भर कर एक नया भव्य प्रासाद ही खड़ा कर दिया है। निषाद भरत को प्रणाम करता है, तो वे उसे तुरन्त हृदय से लगा लेते हैं—

करत दडंवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेम न हृदय समाइ ॥

उसे राम ने हृदय से लगाया है, वह पवित्र है, इसलिये। साधारण भक्त की तरह वे 'सीयराम'-भक्ति माँगते हैं—

भरत कहेउ सुरसरि तव रेनू। सकल सुखद सेवक सुरधेनू ॥
जोरि पानि बर मागऊँ एहू। सीय राम पद सहज सनेहू ॥

कुस-साँथरी देख कर भक्ति-विह्वल हो प्रदक्षिणा करते हैं—

कुस साँथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई ॥

कितने हृदय-भावों को भरत के प्रति तुलसी ने अर्पित किया है, यह इन दो पंक्तियों से प्रगट है। भरत पैदल चल रहे हैं—

झलका झलकत पायन्ह कैसे।
पंकज कोस ओस कन जैसे ॥ २०४ ॥

तुलसी के भरत आत्मदर्शन और आत्म-प्रताड़न की मूर्ति बन कर हृदय के अन्यतम प्रदेश में स्थान कर लेते हैं। उन्हें न माता के 'करतब' का शोच है, न पिता के मरने का। शोच यह है कि राम-लक्ष्मण वनवास का दारुण दुःख सह रहे हैं।

तुलसी की भक्ति-भावना भरत को राम से भी बड़ा बना देती है। राम से राम के भक्त बड़े हैं, यह तो उनकी धारणा है ही। प्रकृति भी इसी धारणा के अनुकूल चलती है—

किएँ जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
तस मग भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात॥

इसी भावना के कारण भरत की यात्रा का अत्यन्त विस्तारपूर्वक चित्रण हुआ है।

चित्रकूट में जो सभा होती है, उसमें राम का चित्रण लक्ष्य है, परन्तु क्षेत्र अब भी भरत के हाथ है। स्वयं तुलसी का मत है—

भरत महा महिमा जलरासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी॥
गा चह पार जतनु हियँ हेरा। पावति नाव न बोहितु बेरा॥
और करिहि को भरत बड़ाई। सरसी सीपि कि सिंधु समाई॥

कहीं-कहीं तो एक ही पंक्ति में तुलसी भरत के व्यक्तित्व को सफलतापूर्वक सामने खड़ा कर देते हैं—

पुलकि सरीर सभा भए ठाढ़े।
नीरज नयन नेह जल बाढ़े॥

भरत जो कहते हैं, वह तुलसी ही के कहलाने की बात है। भरत राम के सम्मुख अनेक प्रस्ताव उपस्थित करते हैं, परन्तु उनकी वाग्विदग्धता उनके भक्ति-भाव से परिचालित होने के कारण उनकी भक्ति को ही प्रकाशित करती है। जनक के आगमन के साथ प्रसंग की गम्भीरता बढ़ जाती है,

भरत फिर गद्गद् भाव से अनेक तर्क उपस्थित करते हैं, परन्तु राम की दृढ़ता उन पर विजय पाती है और भरत होनी समझ कर संतोष कर लेते हैं—भरतहिं भयउ परम संतोषू। इसके बाद भरत रामचरण-रंजित चित्रकूट-स्थली का भक्तिपूर्वक दर्शन करते हैं। भक्त के लिए चित्रकूट की कम महत्ता नहीं है। इस अवसर पर तुलसी भक्त भरत की राम सम्बन्धी प्रेमासक्ति का सुन्दर चित्रण कर सके हैं।

भरत लौट जाते हैं। लंकाकांड में हम उन्हें संन्यासी शासक के रूप में राम की पादुकाओं को लेकर अवध का शासन करते हुए पाते हैं। उत्तरकांड के आरम्भ में भरत के इसी प्रेम विरहासक्त रूप का सुन्दर चित्रण है—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल प्रभु मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम-पदारविंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

यह आत्म-संघर्ष और विरह-भक्ति भाव भरत के चरित्र की 'धुरी' है। मानस में भरत तुलसी के सबसे मौलिक चरित्र हैं और उन्हें सप्राण बनाने के लिए तुलसी ने कुछ भी उठा नहीं रखा है। हो सकता है, भागवत के 'उद्धव' का थोड़ा प्रभाव भी हो, परन्तु शुद्ध भक्त के रूप में उपस्थित होकर भरत राम के भ्राता भरत से बहुत ऊपर उठ गये हैं और शिव एवं हनुमान की तरह भक्तों के लिए साधना का एक प्रतीक बन गये हैं।

प्रेम और विलास की कविता

प्रेम और विलास की कविता के एक उस रूप से हम परिचित हैं जो हमें रीतिकाव्य में मिलता है और जिसकी परम्परा विद्यापति के समय से अब तक बराबर आती है। केशव, बिहारी, देव और पद्माकर इस काव्य-धारा के सबसे उत्कृष्ट कवि हैं और उन्होंने कवित्त-सवैयों और दोहों में शृंगार-साहित्य को अनेक प्रकार से गढ़ा है। यह साहित्य बड़ा विशाल है। कदाचित् संसार के प्रेम और विलास के सारे मुक्तक साहित्य के सम्मुख इसे रखा जा सकता है। इस साहित्य की विविधता और विशदता भी दर्शनीय है। सारे भारतीय काव्यसाहित्य में यह अनेक प्रकार से बेजोड़ है।

एक प्रकार से प्रेम और विलास का यह अधिकांश काव्य नागरिक था। उसके प्रकृति-वर्णन कल्पना-मूलक और शास्त्र एवं साहित्य-प्रेरित थे। हाँ, बरवै और दोहों से कुछ-कुछ प्राकृत गाथाओं (गाथा छंदों) के लेखकों के साहित्य और दृष्टिकोण को अपनाने के कारण गाँव की प्रकृति और ग्रामीण प्रेम और ग्रामीण नायिकाओं का चित्रण हुआ जो इस सारे साहित्य में वही स्थान रखता है जो मरुभूमि में अजस्र-स्रोत जल-प्रपात।

परन्तु प्रेम और विलास की कविता केवल रीतिकाव्य तक ही सीमित नहीं है। सच तो यह है कि विद्यापति से लेकर आधुनिक काल तक लौकिक और आध्यात्मिक प्रेमभाव ही हमारी कविता का मुख्य विषय रहा है।

रीतियुग में प्रेम और विलास की कविता रूढ़िबद्ध हो गई। इससे अधिक कुछ नहीं हुआ। परन्तु यह धारा विद्यापति के समय से बराबर बह रही है। संस्कृत काव्य, साहित्य-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र और काम-शास्त्र ने प्रेम के विषय पक्षों के सम्बन्ध में कुछ निश्चित सिद्धांत बना दिये थे। हिंदी साहित्य तक आते-आते वे दृढ़ हो गए। अतः हिन्दी साहित्य के प्रेम-संबंधी काव्य में रूढ़ पद्धति का ही बहुत कुछ सहारा लिया गया है। पूर्वराग, मिलन, वियोग, पुनर्मिलन — इस प्रकार प्रेम का विकास होता माना गया है। इसी प्रभाव के कारण तुलसी को राम-सीता के पूर्वराग प्रसंग (जनक-वाटिका) को रामचरितमानस में स्थान देना पड़ा।

हिन्दी साहित्य में पहली बार इस शास्त्रीय पद्धति का अवलम्बन विद्यापति के काव्य में मिलता है। हिन्दी रीति-काव्य ने भी अपने ढंग से इसी शास्त्रीय पद्धति को अपनाया है। भक्ति-काव्य में राधा-कृष्ण का प्रेम बहुत कुछ इस शैली से मुक्त हो कर भी चला है। फिर भी जगह-जगह पर शास्त्र का प्रभाव कम नहीं है, जैसे नायिका के अभिसार, खंडिता-प्रसंग आदि में। हिन्दी काव्य के एक स्वतंत्र परन्तु महत्त्वपूर्ण भाग—सप्तशती (सतसई) साहित्य और उससे प्रभावित काव्य—पर गाथा-सप्तशती और इसी प्रकार के अपभ्रंश एवं संस्कृत सूक्ति-संग्रहों का प्रभाव पड़ा है। इसी के फल-स्वरूप ग्रामीण परन्तु रोचक भावों का प्रवेश हो गया है। पूर्ववर्ती काव्य को ग्रहण किया गया है और उसे अधिक पुष्ट एवं प्रभावोत्पादक रूप से सामने रखने की चेष्टा की गई है। मुग़ल काव्य में फ़ारसी की दरबारी कविता हिन्दी के दरबारी कवियों के सम्पर्क में आई। फलतः फ़ारसी प्रेम-काव्य एवं तत्सम्बन्धी सिद्धांतों का प्रभाव हिन्दी पर पड़ना आवश्यक था। परन्तु प्रभाव अधिक नहीं पड़ा। हाँ, प्राचीन साहित्य की ऐसी प्रवृत्तियाँ जो नवीन (फ़ारसी) काव्य से मिल जाती थीं, अपना ली गईं। इन्हीं को विशेष रूप से पुष्ट किया गया। आधुनिक हिन्दी काव्य में द्विवेदी युग में अंग्रेज़ी काव्य का प्रभाव पड़ा और व्यंजनामूलक प्रेम-मुक्तक और खंड काव्य

लिखे जाने लगे। नए छंद, नए भाव, नई उपमाओं से पुष्ट हो कर नवीन काव्य के प्रेम-सम्बन्धी उद्‌गार अत्यंत आकर्षित सिद्ध हुए। प्रेम की परिभाषा भी विस्तीर्ण हुई। जहाँ पहले

पगन में छाले पड़े, दृग में कसाले पड़े
फिर भी लाल लाले पड़े रावरे दरस के

कल्पना की सर्वोत्कृष्ट उड़ान थी, वहाँ अब प्रेम के सम्बन्ध में इतनी ऊँची कल्पना की गई—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है
श्रांत भवन में टिक रहना,
किंतु पहुँचना उस सीमा तक
जिसके आगे राह नहीं

नवीन युग में शास्त्रीय ढंग से प्रेम का विवेचन बंद है। कवि मिलन-विरह की अनुभूति में क़लम डुबो कर लिखता है और वीणा के ऐसे तारों को छेड़ता है जिनकी झंकार अपूर्व है, अद्भुत है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का प्रेम-काव्य अत्यंत पुष्ट है। उसकी दुर्बलताएँ भी कम नहीं हैं, परन्तु कुछ पक्ष सबल भी हैं। हम उसे निःसंकोच संसार के प्रेम-काव्य के सम्मुख रख सकते हैं। जो कहते हैं कि हिन्दी कविता साधुओं, विरक्तों और भक्तों की चीज़ है, या उसमें पांडित्य और चमत्कार ही सब कुछ है, उनके लिए विद्यापति, बिहारी, सूरदास, भारतेन्दु और प्रसाद का काव्य खुला चैलेन्ज है। फिर भी इस स्वीकृति से हमें कोई भी दुःख न होगा कि हिन्दी में प्रेम का स्वस्थ चित्रण बहुत कम है। प्रारम्भिक काव्य-धाराओं का ध्येय आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का पोषण था। स्त्री-पुरुष के प्रेम का पहला चित्रण हमें जायसी आदि सूफ़ी कवियों में मिलता है परन्तु उसमें जहाँ एक ओर अध्यात्म के तत्त्वों की व्यंजना है, वहाँ दूसरी ओर फ़ारसी और उर्दू के विदेशीय प्रेम की झलक है। भक्त-

कवियों में केवल सूरदास ही ऐसे हैं जिन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम को नैसर्गिक भूमि पर चित्रित किया है। राधा-कृष्ण का सौन्दर्य, प्रथम परिचय, प्रेम-विकास और प्रेम की त्याग-भावना का इतना ऊँचा काव्य हिन्दी संसार में अन्य नहीं। रीतिकाल का तो प्रधान विषय ही प्रेम था, कहीं स्पष्ट रूप से लौकिक, कहीं राधा-कृष्ण का ब्याज लेकर चलता हुआ, परन्तु लौकिक। हिन्दी साहित्य का रीतिकाव्य कदाचित् भक्ति-काव्य के विरुद्ध सामूहिक प्रतिक्रिया थी, परन्तु साथ में वास्तविक जीवन में जिस अनैतिकता की प्रतिष्ठा हो गई थी उसका प्रतिबिम्ब भी उसकी कविता में था। इसका फल यह हुआ कि जहाँ रीतिकालीन कविता ने जनता की रुद्ध अचेतन भावनाओं को प्रकाश में लाकर जन-भावना को यौन-विकृति से शुद्ध रक्खा वहाँ दूसरी ओर अपरिष्कृत शृंगार के साहित्य को जन्म दिया। रीति काल की नारी पूर्व मध्यकालीन संस्कृत साहित्य की काव्य-रूढ़ियों के भीतर से विकसित हुई और उसका अपना निजत्व कुछ भी नहीं रह गया। 'योनि मात्र रह गई मानवी'।

पश्चिम के सम्पर्क के साथ समाज का नारी के प्रति दृष्टिकोण बदल चला। कदाचित् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पहली वार नवीन नारी की ओर क़दम बढ़ाया। सुधारवादी आन्दोलनों के फलस्वरूप स्त्री पुरुष की क्रीत दासी और जागीर नहीं रह गई। परन्तु दस शताब्दियों के रूढ़िप्रिय समाज के बंधन एक दिन में ढीले नहीं हो जाते। अब भी हमारे लिए नारी यौन-लिप्सा, रहस्य और स्वामित्व की चीज़ है।

छायावाद के प्रारम्भिक काव्य में—पंत, प्रसाद और निराला की कविताओं में—नारी मांसहीन, रक्तहीन अपार्थिव जीव है। वह 'ज्योति की तन्वी' मात्र है। इसी से इन कविताओं का विरह-रोदन हमारे हृदयों को नहीं छूता। हमारे अपने घर के परिचित सुख-दुख, त्याग-बलिदान, तीज-त्यौहार उसमें नहीं है। उस युग में हमारे समाज में अत्यन्त भीरु

आत्मा भर गई थी। फिर साहित्य में नारी का स्वस्थ प्रेम कैसे मिलता? उत्तर छायावाद काव्य में पहली बार भगवती बाबू और फिर नरेन्द्र ने नारी को प्रेम के क्षेत्र में कृत स्थान दिया परन्तु भगवती बाबू के प्रेम में विद्रोह और झूठी मस्ती की भावना अधिक थी और नरेन्द्र के प्रेम में पुरुषत्वहीन आत्मसमर्पण की। एक और कवि जो इस क्षेत्र में हमारे सामने आता है वह अंचल है परन्तु अंचल की कविता में नारी के वासनामय और हाहाकारमय चित्र ही अधिक मिलते हैं। उसमें नारी का कल्याणी रूप नहीं है। जो हो, छायावाद की अमूर्त कल्पना-रहस्यप्रधान योनिहीन अमानवी नारी-मूर्ति के सामने—चाहे प्रतिक्रिया-रूप में ही सही—एक अतीव पार्थिव और स्थूल, यद्यपि अस्पष्ट-नारीचित्र रखने का श्रेय अंचल को है। नरेन्द्र की कविता में अवश्य नारी के घरेलू परिचित चित्र मिलेंगे और उसे यौन संस्कारों से ऊपर उठा कर प्रकृति के बीच से देखने की चेष्टा दिखलाई पड़ेगी। हमारे समाज में नारी का सम्बन्ध जैसा चाहिये वैसा अभी नहीं हो पाया है। स्वस्थ, आडम्बरहीन और नैसर्गिक प्रेम का विकास होने योग्य परिस्थिति नहीं और इसी लिए हमारा प्रेमकाव्य पश्चिम के प्रेमकाव्य के सम्मुख ठहर नहीं सकता। परन्तु यथार्थ जीवन से संघर्ष पा कर जो दृष्टिकोण विकसित हो रहा है और नारी के बंधन जिस गति से छिन्न-भिन्न हो रहे हैं उसको देखते हुए वह समय दूर नहीं जान पड़ता जब हमारे प्रेम के गीत विश्वकाव्य में स्थान पायेंगे।

प्रत्येक देश के काव्य में स्वस्थ प्रेम और स्वस्थ विलास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि काव्य में कवि की स्वस्थ मनोभावना का चित्रण आवश्यक है, यदि काव्य जीवन का प्रतिबिम्ब है, तो प्रेम और विलास की ओर से हम आँख नहीं मूँद सकते। अतिनैतिकता काव्य के लिए सबसे अधिक घातक है। अतिरसिकता से भी अधिक। रीतिकाल के काव्य ने हमें कुछ बड़ी सुन्दर प्रेम कविताएँ दी हैं; परन्तु द्विवेदीयुग की अति-नैतिकता ने हमें प्रेमकाव्य के नाम पर क्या, विशुद्ध काव्य के नाम पर भी बहुत कम

दिया—कदाचित् थोड़ा भी महत्त्वपूर्ण नहीं दिया। 'छायावाद' के कवियों ने नारी के प्रेम को अतीन्द्रिय बना कर उस पर मायावी इन्द्रजाल का अशरीरी आवरण डाल दिया। परन्तु इन छायावादी कवियों ने रीति-काव्य के अति-शरीरी, देहलिप्स प्रेम के स्थान पर प्रेम की एक नई लीक उपस्थित की। पंत ने गाया—

कब से विलोकती तुमको
ऊषा आ वातायन से?
संध्या उदास फिर जाती
सूने गृह के आँगन से!
लहरें अधीर सरसी में
तुमको तकतीं उठ-उठ कर,
सौरभ-समीर रह जाता
प्रेयसि! ठंडी साँसें भर!

हैं मुकुल मुँदे डालों पर,
कोकिल नीरव मधुवन में;
कितने प्राणों के गाने
ठहरे हैं तुमको मन में?

तुम आओगी, आशा में
अपलक हैं निशि के उडुगण!
आओगी, अभिलाषा में
चंचल, चिरनव, जीवन-क्षण!

रीतिकाव्य और भक्तिकाव्य में नायिका के नेत्रों की सुन्दरता और चंचलता के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। परन्तु पंत की ये पंक्तियाँ एक नया ही सौन्दर्य उन्मुक्त करती हैं—

नील-कमल सी हैं वे आँखें?

डूबे जिनके मधु में पाँख—
मन में मन-मधुकर के पाँख !
नील जलज सी हैं वे आँख !

मुग्ध स्वर्ण-किरणों ने प्रात
प्रथम खिलाए वे जलजात;
नील व्योम ने ढल अज्ञात
उन्हें नीलिमा दी नवजात;
जीवन की सरसी उस प्रात
लहरा उठी चूम मधु-वात,
आकुल लहरों ने तत्काल
उनमें चंचलता दी ढाल
नील नलिन-सी हैं वे आँख !

जिनमें बस उर का मधुबाल
कृष्ण-कनी बन गया विशाल;
नील सरोरुह-सी वे आँख !

नये काव्य में प्रेम की यह नई परम्परा अभी-अभी स्थापित हुई है। कवियों ने शास्त्र और रूढ़िवाद को तिलांजलि दे दी है और अपने अंतरतम भावों के प्रति अधिक से अधिक जागरूक, अधिक से अधिक ईमानदार बनने का प्रयत्न किया है। कालांतर में प्रेम की यह मानवी परम्परा काव्य के नये-नये सरोरुह विकसित करेगी इसमें संदेह नहीं।

हिंदी का नया और पुराना साहित्य

प्राचीन हिन्दी साहित्य का प्रधान अंग काव्य है। लगभग १८०० ई० तक काव्य ही साहित्य का प्रतिनिधित्व करता था। गद्य थोड़ा था और और साहित्य की दृष्टि से वह महत्त्वपूर्ण भी नहीं था। इस काव्य की प्रेरणा मुख्यतः धार्मिक थी परन्तु 'धार्मिक' कह कर हम उसे छोटा नहीं कर सकेंगे। उसमें जहाँ एक ओर अत्यन्त उत्कृष्ट काव्य-कला के दर्शन होते हैं वहाँ दूसरी ओर मानव-अन्तर्मन के निर्माण के लिए भी बहुत कुछ है। सच तो यह है कि मध्ययुग के इस विशाल वाङ्मय के जोड़ की चीज़ संस्कृत के पास भी नहीं है। वह परलोक की ओर अधिक देखता है, परन्तु यह इस साहित्य की दुर्बलता नहीं। यह तो भारत की सांस्कृतिक विशेषता ही है। लौकिक जीवन की एकरूपता, चहल-पहल, हास-विनोद, वैयक्तिक सुख-दुख, घृणा-द्वेष यह भी इस काव्य में मिल जायेंगे। परन्तु जो चीज़ हमें सबसे अधिक प्रभावित करती है, वह इस साहित्य का दृढ़ ईश्वर-विश्वास है। तुलसी कहते हैं—

एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास ॥
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास ॥

इस विश्वास में केवल बौद्धिक संतोष ही नहीं है। यह आत्मा का पूर्ण समर्पण है। चाहे सगुण काव्य को लें चाहे निर्गुण को, यह भावना दोनों में एक ही प्रकार ओतप्रोत है। मीराँ यदि कहती हैं —

आलीरी मेरी नैनन बान पड़ी
चित्र चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी ॥
कबकी ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी।
कैसे प्रान पिया बिन राखूँ, जीवन मूल जड़ी।
मीराँ गिरिधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी ॥

तो कबीर भी उस प्रियतम के वियोग में तड़पते हुए दिखलाई देते हैं—

रात्यूँ रूनी बिरहणी ज्यूं बंचौ कूँ कुंज।
कबीर अंतर प्रजल्या प्रगट्या बिरहा-पुंज ॥
बिरह भुवंगम तन बसै मंत्र न लागै कोइ।
राम बियोगी ना जिवै जिवै त बौरा होइ ॥
बिरह जलाई मैं जलौं जलती जलहरि जाउँ !
मो देख्याँ जल हरि जलै, संतौ कहा बुझाउँ ॥

यह अनन्य ईश्वर-प्रेम, तह उच्च कोटि का आध्यात्मिक विरह, यह संसार की असारता और ऐहिक सुख की क्षण-भंगुरता का वर्णन, यह परमात्मा का वात्सल्य और सख्य, यह आत्मा-परमात्मा (राधा-माधव) की केलि अन्यत्र दुर्लभ है। जिस साहित्य में ऐसा अलौकिक भंडार है उसे किसी भी बात की कुंठा नहीं हो सकती। संत-असंत, सुख-दुःख, संतोष और विराग, तप और संयम आध्यात्मिक जागरूकता और साधना के विषय बनाये गये हैं। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि मध्ययुग के इस साहित्य ने अशांति और अधर्म के युग में भी राष्ट्र का मेरुदंड सशक्त बनाये रखा। आज भी जनता के विश्वास, चरित्र और संस्कृति के मेरुदंड कबीर, दादू, मीराँ सूर और तुलसी ही हैं। गीता, भागवत, उपनिषदों और वेदों में वह सब तत्त्व हैं जो इन कवि-साधकों के काव्य में मिलते हैं; परन्तु यहाँ वे उपदेश-मात्र नहीं रह कर अनुभूति, सत्य और साधना बन गये हैं।

इस प्राचीन हिंदी काव्य में संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश की परम्पराएँ

पूर्ण रूप से सुरक्षित हैं। हिन्दी के कवियों और साधकों के सामने इन भाषाओं के साहित्य की सृष्टि करना असम्भव बात थी। परन्तु फिर भी संतों और भक्त कवियों ने जो कुछ लिखा वह उनकी अनुभूति का बल पाकर मौलिक ही बन जाता है। परन्तु अनुभूति का यह पक्ष १६०० ई० के बाद अत्यन्त शीघ्रता से क्षीण होने लगा। संस्कृत काव्य-शास्त्र का अनुकरण चला और संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के मुक्तक काव्य को आदर्श बना कर दोहे-कवित्त-सवैयों की रचना की एक परम्परा चल पड़ी जो १८५० ई० तक बराबर चलती रही। इस वृहद् कवित्त-सवैया-साहित्य में कवि की प्रेरणा नितांत लौकिक है और वह मुख्यतः शृंगार-रस तक सीमित है। वह बराबर परम्परागत विषयों, कवि-रूढ़ियों और साहित्य-रीतियों का प्रयोग करता है। फिर भी इस काव्य-साहित्य में बहुत कुछ नवीन है यद्यपि वह कोई विशेष महत्त्व या श्रेय की वस्तु हमें नहीं देता। परन्तु यह स्पष्ट है कि प्राचीन काव्य धर्म और नारी तक ही सीमित था। यही कवियों के दो प्रिय विषय थे।

आधुनिक युग प्राचीन युग से अनेक प्रकार से भिन्न है और इस विभिन्नता को समझे बिना हम नए साहित्य की महत्ता को पूर्णतया हृदयंगम नहीं कर सकते। न केवल साहित्य के विषय और साहित्य-रीति में अंतर पड़ गया है, वरन् साहित्य के सम्पूर्ण अर्थ ही जैसे बदल गये हैं।

आधुनिक साहित्य में जो चीज़ें एकदम प्राचीन साहित्य से विभिन्न हैं उनकी विवेचना करने से पहले हमें यह समझ लेना होगा कि प्राचीन साहित्य की मूल भित्ति क्या थी। पहली बात तो यह है कि उस समय साहित्य केवल काव्य का द्योतक था। काव्य के अतिरिक्त साहित्य के अन्य पक्षों का विकास प्राचीन युग में विशेष नहीं हुआ। आधुनिक युग में जिस प्रकार साहित्य से 'गद्य' का अर्थ समझ लिया जाता है, उससे ठीक

विपरीत बात थी। प्राचीन काव्य की अपनी विशेषता थी, अपनी मर्यादा थी और अपनी सीमा थी। वह संस्कृत में लिखे हुए शास्त्रों से अनुप्राणित होता था। पुराने आचार्यों पर उस समय के कवि की अगाध श्रद्धा थी। हिन्दी काव्य को अनिवार्यतः संस्कृत काव्य से छोटा मान लिया गया था। अधिकांश कवि भावों और विचारों के लिए संस्कृत काव्य के आश्रित थे। 'कवि का व्यक्तित्व कविता में यथासम्भव कम प्रस्फुटित होता था, बँधे-बँधाए नियमों की अनुवर्तिता में कवित्व का साफल्य स्वीकृत हो चुका था, कविता रसपरक हो गई थी, पर वह सम्पूर्णतः अपने को धर्म से अलग नहीं कर सकी थी। जन्मान्तरवाद निश्चित रूप से स्वीकृत हो जाने के कारण प्रचलित रूढ़ियों के विरुद्ध तीव्र संदेह एकदम असम्भव था। काव्य-शास्त्र की रूढ़ियाँ कविता का अविच्छेद अंग हो गई थीं।' सच तो यह है कि आधुनिक युग से पहले हिन्दी में जिस साहित्य का प्रचलन था, वह बहुत कुछ परमुखापेक्षी था। उसमें कवि की अपनी अनुभूति और उसके अपने व्यक्तित्व के लिए किंचित भी स्थान नहीं था। अपने चारों ओर के समाज से भी उसे कोई प्रयोजन नहीं था। उसकी साधना काव्यशास्त्र के अध्ययन और काव्य-रचना के अभ्यास तक ही सीमित थी। वास्तव में यह कविता जीवन से विच्छिन्न हो गई थी। कविगण नायक-नायिकाओं और अलंकारों एवं संचारी भावों के सम्बन्ध में निर्णीत धारणाएँ लेकर एक बँधे-सधे स्वर में काव्यालाप द्वारा अपना मनोरंजन कर रहे थे।

आधुनिक काव्य में न भक्तिकाव्य की रूढ़ियाँ ग्रहीत हुई हैं, न रीति काव्य की। वस्तुतः उसमें इन दोनों काव्य-धाराओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्पष्ट ही दिखलाई पड़ती है। राम और कृष्ण को लेकर काव्य-रचना इस युग में भी हुई है, परन्तु उसमें दैन्य और भक्ति के स्वरों के स्थान पर राष्ट्रीयता और नई सामाजिकता के स्वर बज रहे हैं। प्रार्थनापरक कविताएँ इस युग के काव्य में भी बहुत सी मिलती हैं, परन्तु मूल भावना,

उसके उपकरणों और भाव-प्रकाशन की शैली में महान् अन्तर है। वह भक्तों और सन्तों की रचनाओं की अपेक्षा रवि ठाकुर की रचनाओं के अधिक निकट पड़ती है। निराला जब कहते हैं—

डोलती नाव, प्रखर है धार
सँभालो जीवन खेवनहार !

या पंत जीवन के श्रम ताप हरो, हे !

कह कर किसी अव्यक्त चित्सत्ता के प्रति उन्मुख होते हैं या प्रसाद

मेरी आँखों की पुतली में
तू बनकर प्राण समा जा रे

जैसे सुन्दर गीतों में कोई अतीन्द्रिय झंकार उठाते हैं तो वह हमारी परिचित झंकार जैसी जान पड़ती है। आधुनिक रहस्यवाद की धारा भी प्राचीन रहस्यवादी काव्यधारा से भिन्न है। उसके उपकरण नए हैं, शैली नई है। वह बहुत कुछ बुद्धिमूलक और भावात्मक है, साधनात्मक नहीं। कबीर-जायसी के रहस्यवादी काव्य से महादेवी वर्मा के रहस्यात्मक काव्य की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस काव्य के प्रतीक भी नये हैं। उसके विकास की अपनी अलग परम्परा है। सच तो यह है कि आधुनिक काल में धर्म-भाव, रहस्यवाद और भक्ति साहित्य की कोई महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति नहीं है। जो थोड़ा बहुत स्फुरण इस क्षेत्र में हम देखते हैं, वह या तो परम्परा से प्रभावित है या व्यक्तिगत रुचि का फल है।

इसमें सन्देह नहीं कि इस युग में कवि का व्यक्तित्व बहुत महत्त्वपूर्ण बन गया है। प्राचीन काव्य का प्रणेता मुख्यतः निर्वैयक्तिक था। वह अपनी बात न कहकर सबकी बात कहना चाहता था। इसी से वह पग-पग पर राधा-कृष्ण के प्रतीक लेकर चलता था। सामान्य बात कहने से उसकी बात में एक विशेष प्रकार की गरिमा आ जाती थी। वह बड़े संयम से काम लेता था। यह कुछ आश्चर्यजनक-सा है कि सैकड़ों कवियों ने

राधा-कृष्ण के मिलन-वियोग की कथा गाई परन्तु उन्होंने अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख के विषय में कुछ नहीं कहा। आधुनिक कवि अपने व्यक्तित्व में डूब कर लिखता है। वह अपनी बात कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करता। अपने सुख-दुःख, अपने मिलन-वियोग, अपनी आशा-आकांक्षाओं के प्रति वह पूर्ण रूप से जागरूक है। 'बच्चन' की कविता में ही नहीं, लगभग सभी आधुनिक कवियों में उनके व्यक्तित्व के स्वर जैसे प्रखर हो उठे हैं। आज कवि ने परिपाटी-विहित रसज्ञता और रूढ़ि-समर्थित काव्य-कला को एक साथ चुनौती दी है। वह अपनी अनुभूति की भूमि पर खड़ा होकर अपनी आँखों से संसार को देखता है। 'वीणा' (१९१४—८) से 'एकांत संगीत' (१९४६) तक का काव्य कवि की इस नवीन खोज का इतिहास है। 'वीणा' में हम पंत को प्रश्नभरी मुद्रा से संसार को देखते पाते हैं, 'पल्लव' में कुछ असंतोष भी दिखलाई पड़ती है, परन्तु संसार कवि के लिए अब भी रहस्यमय है। १९३० ई० के बाद के हिन्दी काव्य-साहित्य में असंतोष, रहस्य और विद्रोह के स्वर और भी मुखर हो उठे हैं। कवि अपनी गोपनीय भावनाओं को भी कविता का रूप देने में नहीं हिचकता। वैयक्तिकता का यह प्रसार हिन्दी कविता के लिए एकदम नई चीज़ है।

और भी अनेक नये उपकरणों का साहित्य में समावेश हुआ है। 'नारी ने अपने समानाधिकार के दावे के साथ साहित्य में प्रवेश किया है और दृढ़ तथा उदात्त कंठ से पिछली शताब्दी की कल्पित अवास्तविक नारी-मूर्ति के चित्रण का प्रतिवाद किया है। साहित्य अनजान से इस कल्पना से दूर हट गया है। वह दिन अब जाता रहा है जब प्रकृति सिर्फ़ उद्दीपन भाव के रूप में, या केवल सजावट के रूप में चित्रित की जाती थी × ×। आज प्रकृति के साथ साहित्यिक का रिश्ता है, उद्दीपन का नहीं। आधुनिक कविता में प्रकृति में आध्यात्मिकता का भी आरोप देखा गया है। ईश्वर का स्थान आज मानवता ने ले लिया है। पूजन-

भजन के स्थान पर आज पीड़ित मानवता की सहायता और हमदर्दी प्रतिष्ठित हो चुकी है। प्राचीन धार्मिक विश्वासों की रूढ़ियों के हिल जाने के कारण आज के साहित्यिक ने संसार को नई दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है।

भाव-क्षेत्र में सामाजिकता और राष्ट्रीयता और कला-क्षेत्र में यथार्थ को प्रतिष्ठा आधुनिक युग की दो अन्य महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ हैं। सामाजिकता और राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०—८५) के काव्य में ही देखते हैं। अपने युग के सभी प्रगतिशील समाजसुधार के आन्दोलनों में उन्होंने भाग लिया और 'नील देवी' एवं 'प्रेमयोगिनी' जैसी नाटिकाएँ लिखकर समाज के सामने नये आदर्श उन्होंने रखे। उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण उनके ब्राह्मण-विरोधी इस कथन से स्पष्ट है—

विधवा-ब्याह निषेध कियो, विभिचार प्रसार्यो।
रोकि विलायत गमन कूप मंडूक-बनायो॥
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई॥
ईश्वर सों सब विमुख किए हिंदुन घबराई॥
अपरस सोल्हा छूत रचि भोजन प्रीति छुड़ाई।
किए तीन तेरह सबै चौका चौका लाई॥

'नये जमाने की मुकरी' (१८८४) में एक मुकरी है—

भीतर-भीतर सब रस चूसै।
हँसि हँसि के तन मन धन मूसै॥
जाहिर बातिन मैं अति तेज।
कह सखि साजन ना अंग्रेज॥

जिससे उनका राष्ट्रीय दृष्णिकोण स्पष्ट है। उन्होंने पहली बार चुनौती के कंठ से गाया—

भारत में मची है होरी।
इक ओर भाग अभाग एक दिसि होय रही झकझोरी॥
अपनी-अपनी जय सब चाहत होड़ पड़ी दुहुँ ओरी।
दुंद सखि बहुत बढ़ो री।

× × ×

हारयो भाग अभाग जीत लखि विजय निसान धयो री
तब स्वाधीन बनो धन-बुधि-बल फगुआ नाहिं लयो री
शेष कछु रहि न गयो री।

उनके युग के सभी प्रसिद्ध कवियों ने यही झंकार उठाई। यह झंकार नई थी, परन्तु बड़ी सशक्त थी और देश की जनता ने उसका स्वागत ही किया। मैथिलीशरण गुप्त (१८८६—) की काव्यधारा में ये दोनों धाराएँ अपने सुन्दरतम कलात्मक रूप में मिलकर एकाकार हो जाती हैं। छायावादी कवियों के काव्य में यदा-कदा यह झंकार सुनाई दे जाती है, यद्यपि वह शंखनाद का रूप ग्रहण नहीं कर सकी है और आज का कवि-साहित्यकार तो समाज और राष्ट्र को छोड़ कर और किसी विषय पर लिखना ही नहीं चाहता। नई सामाजिकता और राष्ट्रीयता आज युग-धर्म हैं।

यथार्थवाद की धारा हिंदी के लिए नई चीज़ नहीं है। भारतेन्दु की 'प्रेमयोगिनी' (१८७४) नाटिका से ही इसकी परम्परा स्थापित की जा सकती है। नाटक के क्षेत्र में एक बार इस तरह अपनी झलक दिखला कर यह धारा लुप्त हो गई और १९३० ई० के लगभग पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटकों में उसने एक बार अपना दर्शन दिया। १९३६ ई० के बाद प्रगतिशील आन्दोलन के रूप में एक ऐसा आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जो राजनीति में साम्यवाद और साहित्य-शैली में यथार्थवाद को प्रश्रय देता था। इस आन्दोलन के फलस्वरूप कुछ नई साहित्यिक

प्रवृत्तियों का जन्म हुआ। वैयक्तिकता को भावुकता समझ कर उसे छोड़ा जाने लगा। अत्यंत आधुनिक कवि किसी भी प्रकार की भावुकता को पसंद नहीं करता। वह वस्तु को निरपेक्ष भाव से देखना चाहता है। इसे हम अपने युग की वैज्ञानिक रुचि का प्रभाव भी मान सकते हैं। फलतः कवि अपने विषय से आत्मीयता स्थापित नहीं करता। वह संसार को अनासक्त और तद्गत भाव से देखना चाहता है। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के दृष्टिकोण में थोड़ी नवीनता है। कौतूहल और उत्सुकता भी कम नहीं है। परन्तु ये साहित्य की स्थायी वृत्तियाँ नहीं हैं। साहित्य का मेरुदंड कुछ और है। वाह्य जगत को तद्गत और अनासक्त भाव से मनुष्य भले ही पकड़ ले, अपने भाव-जगत के चित्रण में उसे अनुभूति और आत्मीयता के क्षेत्रों में उतरना ही पड़ता है।

यह यथार्थवाद की धारा भी एक अत्यंत संश्लिष्ट धारा है। इसमें युग की अनेक प्रवृत्तियाँ मिले-जुले रूप से काम कर रही हैं। जो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती हैं, उनमें से केवल दो प्रवृत्तियाँ—वैयक्तिकता का ह्रास और वक्तव्य वस्तु के यथार्थ की वृद्धि—का हमने ऊपर उल्लेख किया है। परन्तु यथार्थ की वृद्धि का तात्पर्य यह नहीं है कि कवि का वक्तव्य अर्थ एकदम वाच्य के रूप में ही प्रकट होता है। आज का कवि फिर एक बार व्यंजना को प्रधानता देने लगा है। वह अपनी ओर से बहुत कम कहता है या बिल्कुल नहीं कहता। परन्तु उसकी व्यंजना नये ढंग की है। नये प्रतीक, नई उपमाएँ-उत्प्रेक्षाएँ, नए कला-विधान, शब्दों और अर्थों की नई झंकारें युद्धोत्तर हिंदी काव्य को छायावाद की काव्य-परम्परा से अलग करती हैं। आधुनिक युग की विशृंखलता, उसकी हीनता, उसके सुख-दुख, उसका वर्ग-संघर्ष, उसका अच्छा-बुरा सब कुछ अनेक रूपों से आधुनिक-काव्य में प्रतिबिम्बित हो उठा है।

परन्तु काव्य आज सारे साहित्य का प्रतिनिधित्व नहीं करता। गद्य

की अनेक कोटियों का विकास इसी युग में हुआ है और जिन प्रवृत्तियों को हम गद्य के क्षेत्र में अंकुरित एवं विकसित देखते हैं वे बहुत कुछ पद्य-क्षेत्र की प्रवृत्तियों से समानता रखते हुए भी कुछ अंशों में भिन्न हैं। गद्य के क्षेत्र में जहाँ वैयक्तिकता के प्रकाशन की प्रवृत्ति ने काव्यात्मक शैलियों और गद्यगीतों को जन्म दिया है, वहाँ उसमें निर्वैयक्तिक प्रवृत्तियों की ही प्रधानता है जो कथा-कहानी में मुख्य रूप में प्रकाशित हुई हैं। आज प्रेमचंद का 'गोदान' ही हमारे युग का सबसे सुन्दर प्रतीक है। काव्य में जिस धीरोदात्त नायक की प्रतिष्ठा आदि कवि के समय से हमारे समय तक बराबर होती रही है, उस नायक का स्थान आज इस देश के एक अज्ञात कुल-शील, सब तरह से सामान्य, अंध भिक्षुक सूरदास अथवा साठे पर पहुँचे हुए होरी ने ले लिया है। आधुनिक युग मुख्यतः धरती की समस्याओं और धरती के पुत्रों से संबंधित है। चाहे काव्य में हो, चाहे गद्य में, नए युग की चेतना दीनों, हीनों, अपाहिजों और सर्वहारा वर्ग के नर-नारियों को लेकर आगे बढ़ती है। विषय के अनुरूप बात कहने की शैली में ही परिवर्त्तन हो गया है। पद-झंकारेण मात्र से जो हमें मोह ले, वही आज काव्य नहीं है, श्रेष्ठतम काव्य तो वह है ही नहीं। गद्य-पद्य में सब कहीं नई-नई व्यंजनाओं और नये-नये अर्थों के प्रसार के लिए नित्य-नवीन आग्रह स्पष्ट ही दिखलाई पड़ता है।

—o::o—

भारतेन्दु-युग के काव्य में प्रकृति

भारतेन्दु-युग ऐसा समय था जब हिन्दी कविता राजाश्रयों से निकल कर जन-मार्ग पर आ खड़ी हुई थी। उसमें पिछली काव्य-परम्पराओं का गहरा अनुरोध था, परन्तु नवीनता भी कम नहीं थी। भारतेन्दु युग-संधि पर खड़े हैं। अतः उनके काव्य में हम प्राचीनता-नवीनता का बड़ा सुन्दर मेल देखते हैं। स्वयं उनके काव्य के दो भेद होसकते हैं। एक प्राचीन काव्य-परिपाटियों को लेकर चला है जैसे उनकी संत कविता, भक्ति काव्य, शृंगार काव्य। दूसरा, नवीन प्रसंगों और नूतन राष्ट्रीय एवं सामाजिक संस्कारों को लेकर उपस्थित हुआ है। प्राचीन परिपाटी की कविता अधिकांश परम्परा-युक्त है, यद्यपि भारतेन्दु ने उसमें भी प्रेम-भावना को संस्कृत करने का प्रयत्न किया है। इस परिपाटी की प्रकृति-विषयक कविता में कोई भी नवीनता नहीं है, वही उद्दीपन भाव की पुष्टि के लिए या भाव-चित्रण की वीथिका के रूप में उसका प्रयोग हुआ है। रीति-काव्य में प्रकृति-चित्रण की एक रूढ़ि स्थापित हो गई थी, इसलिए पहले इसी काव्य की प्रवृत्ति पर विचार करेंगे—

"सूर और तुलसी आदि स्वच्छन्द कवियों ने हिन्दी कविता को उठाकर खड़ा ही किया था कि रीतिकाल के शृंगारी कवियों ने उसके पैर छानकर उसे गंदी गलियों में भटकने के लिए छोड़ दिया। फिर क्या था, नायिकाओं के पैरों में मखमल के सुर्ख बिछौने गड़ने लगे। यदि कोई षट्ऋतु की लीक पीटने खड़े हुए तो कहीं शरद की चाँदनी से किसी विरहिणी का

शरीर जलाया, कहीं कोयल की कूक से कलेजों के टूक किये, कहीं किसी को प्रमाद से प्रमत्त किया। उन्हें तो इन ऋतुओं को उद्दीपन मात्र मान संयोग या वियोग की दशा का वर्णन करना रहता था। उनकी दृष्टि प्रकृति के इन व्यापारों पर तो जमती नहीं थी, नायक या नायिका पर ही दौड़-दौड़ कर जाती थी। अतः उनके नायक या नायिका की अवस्था विशेष कर प्रकृति की दो-चार इनी-गिनी वस्तुओं से जो सम्बन्ध होता था, उसी को दिखाकर वे किनारे हो जाते थे।''

(पं० रामचन्द्र शुक्ल)

जब हम केशवदास के प्रकृति-चित्रण में उन्हें उत्प्रेक्षा-विरोधाभास की झड़ी लगाते देखते हैं, और यह कहते सुनते हैं—

देखे भावे मुख, अनदेखे चन्द

और जब बिहारी के साथ पढ़ते हैं—हे नायक, उधर प्रकृति में चन्द्रोदय क्या देख रहा है, इधर नायिका की ओर देख! तब हमें अवतरित कथन की सत्यता में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता।

काव्यालोचना में प्रकृति को अपने उच्चाधिकार पर प्रतिष्ठित कराने वाले आलोचक-प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल भारतेन्दु के प्रकृति-चित्रण पर लिखते हैं—

''बाबू हरिश्चन्द ने यद्यपि समयानुकूल प्रसंग छोड़ नए-नए संस्कार उत्पन्न किये, पर उन्होंने भी प्रकृति पर प्रेम न दिखाया। उनका जीवन-वृत्तान्त पढ़ने से भी पता चलता है कि वे प्रकृति के उपासक न थे। उन्हें जंगल, पहाड़, नदी आदि को देखने का उतना शौक न था। × × × वे उर्दू कविता के भी प्रेमी थे जिसमें बाह्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की चाल नहीं। × × वन, नदी, पर्वत आदि के चित्रों द्वारा मनुष्य की कल्पना को स्वच्छ और स्वस्थ करने का भार उन्होंने अपने ऊपर नहीं लिया है।

उनकी रचनाओं में विशुद्ध प्राकृतिक वर्णनों का अभाव बराबर पाया जाता है। ऋतु-वर्णन में उन्होंने मनुष्य की कृति ही की ओर अधिक रुचि दिखाई। जैसे "सत्य-हरिश्चंद" के गंगा के इस वर्णन में—

नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति
बिच बिच छहरत बूँद मध्य मुक्ता मनु मोहति
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत
जिमि नर गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत
कासी कह प्रिय जानि ललकि भेट्यो उठि धाई
सपनेहू नहिं तजी रही अंकम लपटाई
कहूँ बँधे नवघाट उच्च गिरिवर सम सोहत
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत
धवल धाम चहुँ ओर, फरहरत धुजा-पताका
घहरति घंटा धुनि, धमकत धौंसा करि साका
मधुरी नौबत बजत, कहूँ नारी नर गावत
वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत

× × × 'चन्द्रावली नाटिका' में एक जगह यमुना के तट का वर्णन आया है। पर वह परम्परायुक्त हुआ है। उसमें उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं मात्र की भरमार इस बात को सूचित करती है कि कवि का मन प्रस्तुत वस्तुओं पर रमता नहीं, हट-हट जाता था। कुछ अंश देखिए—

१—तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए
झुके कूल सों जल परसन हित मनहु सुहाए
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज सोभा
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा
मनु आतप वारन तीर कौं सिमिट सबै छाए रहत
कै हरि सेवा हित नै रहे, निरखि नैन मन सुख लहत

२—कहूँ तीर पर अमल कमल सोभित बहु भाँतिन
कहूँ सैवलन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन
मनु दृग धरी अनेक जमुन निरखति ब्रज सोभा
कै उमगे पिय-प्रिया-प्रेम के अगनित गोभा
कै फरिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई
३—कै पियपद-उपमान जानि यहि निज उर धारत
कै मुख करि बहु भृंगन मिसि आतुरि उच्चारत
कै ब्रज हरि पद दरस हेतु कमला बँह आई
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रजमण्डल बगरे फिरत
कै जानि लच्छमी-भौन यहि करि सतधा निज जल धरत

भारतेन्दु ने राधाकृष्णदास को लिखे कुछ पत्रों में अपनी काश्मीर-यात्रा के प्रकृति के सुन्दर चित्र दिये हैं, इससे यह स्पष्ट है कि वे प्रकृति के प्रति आकर्षित अवश्य होते थे, परन्तु काव्य में उन्होंने प्राचीन परिपाटी का ही आश्रय लिया। यदि वे उपन्यास लिखते, तो हमें उनके द्वारा प्रकृति के सुन्दर खंड-चित्र अवश्य मिलते, परन्तु नाटकों में प्रकृति के लिए अधिक स्थान भी नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु के साहित्य में केवल कविता ही एक ऐसा साहित्य-भेद है जिसमें हमें उनके प्रकृति-चित्रण के दर्शन होते हैं और यहाँ वे परम्परायुक्त, रूढ़ि शैली और विचार-धारा को ही लेकर चले हैं। हमें यह स्वीकार करना है कि प्रकृति-चित्रण को उनका नेतृत्व नहीं मिल सका है। उनके समसामयिकों में से बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अपने प्रकृति-चित्रण में यह विशेषता दिखाई है कि वर्षा को ऋतुराज माना है, वसंत को नहीं, जैसा परम्परा से काव्य में प्रसिद्ध चला आता है। चौधरीजी विन्ध्यवासी थे, मिर्जापुर के आस-पास के पर्वतों और वनस्थल के वैभव से वे परिचित थे। वे वर्षा पर रीझ उठे और उन्होंने एक बड़ी साहित्यिक रूढ़ि का विरोध किया। सच तो यह है

कि हमारे देश में वर्षा का वैभव वसंत के वैभव से किसी प्रकार कम नहीं है। चौधरीजी के काव्य में ही हम पहले पहल उन्नीसवीं शताब्दी की कविता में प्रकृति के प्रति रसात्मक अनुरोध पाते हैं। इसके बाद पं० श्रीधर पाठक आते हैं। हिन्दी काव्य में आधुनिक ढंग का प्रकृति-चित्रण पहले-पहल इन्हीं से शुरू होता है। इन्हें प्रेरणा भी अंग्रेज़ी साहित्य, विशेष कर गोल्डस्मिथ से हुई। यह भी आश्चर्य की बात है। उस समय तक अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों वर्डस्वर्थ, शैली, कीट्स बाइरन आदि की प्रकृति-सम्बन्धी कविताएँ पाठ्य पुस्तकों के रूप में हमारे विद्यार्थियों को उपलब्ध थीं, परन्तु पाठकजी ने अपने युग की आत्मा के अनुकूल स्वच्छन्दतावादी कवियों को न चुन कर एक क्लासिकल कवि को चुना। जो हो उनके कारण प्रकृति के अनेक स्वतंत्र, अपने में पूर्ण, चित्र हिन्दी में आए। उनके बाद तीसरी शक्ति का उदय हुआ। यह "सरस्वती" थी, जिसने १६०३ से १६१० तक अनेक अंग्रेज़ी प्रकृति-कविताओं का अनुवाद किया और नवयुवक कवियों को स्वच्छन्दतावादी अंग्रेज़ी कवियों के चित्रण की ओर आकर्षित किया।

श्री सुमित्रानन्दन पंत

श्री सुमित्रानन्दन पंत आधुनिक हिन्दी काव्य के अग्रदूत हैं। निराला और प्रसाद के साथ उनका नाम छायावाद काव्य के प्रवर्तकों में लिया जाता है। १९१३ ई० के लगभग प्रसाद की रचनाओं से इस नई काव्य-धारा का प्रादुर्भाव हुआ और लगभग पाँच वर्ष बाद पंत की वे प्रारम्भिक कविताएँ सामने आईं जो वीणा' (१९२७) में संग्रहीत हैं। परन्तु जिस काव्य-संग्रह ने हिन्दी को विशेष रूप से आकर्षित किया और युग-प्रवर्तन की सूचना दी वह 'पल्लव' (१९२८) था। इसमें यह किशोर कवि भाषा-शिल्पी, कल्पना-जीवी और सुन्दर गीतिकाव्य प्रणेता के रूप में हमारे सामने आया। इसके बाद तो कवि बराबर गतिशील बना रहा और आज २०—२२ वर्ष बाद भी काव्यक्षेत्र में उसका नेतृत्व सुरक्षित है। उसकी अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं 'गुंजन' (१९३२), 'ज्योत्स्ना' १९३४), 'युगांत' (१९३५) 'युगवाणी' (१९३९), 'ग्राम्या' (१९४०) 'स्वर्ण धूलि' और 'स्वर्ण किरण' (१९४९), 'युगपथ' और 'उत्तरा' (१९५०)। इनमें ज्योत्सना काव्य रूपक है यद्यपि उसमें गद्य का ही विशेष प्रयोग हुआ है। 'ज्योत्स्ना' कवि की मंगलाशा की प्रतीक है। कवि चाहता है कि संसार पर से जड़ता और मानव-मन की दुष्प्रवृत्तियों का राज्य समाप्त हो जाये और वह साम्य, सहयोग और सुन्दरता की भावनाओं से ओतप्रोत हो जाये। कल्पनाजीवी, भाषा-शिल्पी तरुण कवि के लिए यह एकदम नई दिशा थी, परन्तु अपने परवर्ती

काव्य में उन्होंने इस दिशा को विशेष विकसित किया है। वे हमारे सबसे बड़े मानववादी, कलाकार और युग-चिंतक हैं।

पंत में दार्शनिकता का उतना आग्रह नहीं है जितना प्रसाद और निराला में। वे प्राकृत कवि हैं। उन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य और मानव-जीवन को कुतूहल, उल्लास और रहस्य की दृष्टि से देखा है। वे सच्चे अर्थों में रोमांटिक हैं। 'उच्छ्वास', 'ग्रंथि' 'पल्लव' और 'गुंजन' ये उनके क्रमिक विकास का इतिहास उपस्थित करते हैं। अपने युग में उन्हीं का अनुकरण सबसे अधिक हुआ है और छायावाद काव्य का प्रतिनिधि कवि उन्हें ही कहा जा सकता है। यद्यपि कथा शैली-विशेष के कारण खुली नहीं है, परन्तु उसमें हमें पंत के प्रकृत रूप के कुछ दर्शन पहली बार होते हैं। 'वीणा' में उनका रूप बहुत कुछ स्पष्ट हुआ है परन्तु 'पल्लव' में ही वे पहली बार काव्य की मान्यताओं को तर्क-वितर्क की भूमि पर उतारते हुए और निश्चित सिद्धान्तों को लेकर बढ़ते हुए सामने आते हैं। 'पल्लव' (१६२६) में सुकुमार शब्दचयन, उत्कृष्ट कल्पना सौन्दर्य और प्रेम का रहस्यात्मक एवं तीव्र आकर्षण, अतीन्द्रिय प्रेम का आग्रह इतने स्पष्ट रूप से जनता के सामने आया कि वह कवि को भली भाँति समझने पर भी उनके प्रति जिज्ञासु हो उठी। पंत की प्रारम्भिक कविताओं पर यह प्रभाव लगभग नहीं है। इन कविताओं का ऐतिहासिक महत्त्व महान् है क्योंकि इन्हीं के द्वारा काव्य की प्रचलित परिपाटी के प्रति विद्रोह और नवीन काव्य की रूपरेखा प्रकाशित हुई है। 'पल्लव' में पंत का विरोध अत्यन्त सफल कविता के रूप में प्रगट हुआ है। यहाँ हमें छायावाद का प्रकृत रूप मिलता है। 'गुंजन' की कविताओं में कवि विषय, भाषा और प्रेम-व्यंजना की इतनी ऊँची भूमि पर उठ गया है कि 'पल्लव' के विरोधी स्वर भी दब गए हैं, परन्तु यहाँ हमें कवि जीवन-मरण जैसे चिरन्तन सत्यों के उद्घाटन में लगा दिखलाई देता है। 'पल्लव' में वह बाह्य जगत पर मुग्ध था, उसके सौन्दर्य में रहस्य और कुतूहल की खोज करता था, 'गुंजन' में अंतःमुख

हो गया है। जहाँ उसने वाह्य जगत को देखा भी है वहाँ आत्मचिंतन के भीतर से। इसी से 'गुंजन' में दर्शन और कविता का सुन्दर सामंजस्य स्थापित हो सका है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में -- "गुंजन में हम जीवन क्षेत्र के भीतर कवि का अधिक प्रवेश ही नहीं, उसकी काव्य-शैली को अधिक संयत और व्यवस्थित पाते हैं। प्रतिक्रिया की झोक में अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य आदि के अतिशय प्रदर्शन की ओर जो प्रवृत्ति हम 'पल्लव' में पाते हैं, वह 'गुंजन' में नहीं है। उसमें काव्य-शैली अधिक संयत और गम्भीर हो गई है।"

पंत की परवर्ती कविताओं में अन्य अनेक प्रवृत्तियों का मेल हुआ है, परन्तु उनमें भी वह अपने पुरातन स्वर नहीं भूल सके हैं। जहाँ कवि प्रकृति और नारी-सौन्दर्य के सम्पर्क में आ जाता है, वहाँ उसकी वीणा के पुराने तार ही झंकृत हो उठते हैं। परन्तु इन बाद की कविताओं में वह कल्पना के शीशमहल से निकल कर जीवन के कर्म-पथ पर बराबर बढ़ता चला गया है। उसने यह प्रयत्न किया है कि कर्म के भीतर से कर्मठ जीवन के स्वरों के उतार-चढ़ाव चित्रित कर सके, यद्यपि अपनी ईश्वर-प्रदत्त कोमल प्रवृत्ति के कारण वह सब कहीं सफल नहीं हो पाया है। फिर भी यह निश्चित है कि उसने प्रकृति, नारी-सौन्दर्य, मानव-समाज और भौतिक द्वन्दों को नई दृष्टि से देखा है और उसका काव्य अपने समय के सबसे प्रगतिशील विचारों का वाहन बना है।

अब कवि न केवल कल्पनाजीवी बना रहता है, न केवल औपनैषदिक मंगलवाद में डूबा रहता है। वह अपने काव्य को सामाजिकता की गहरी भित्ति देता है। युगों-युगों से जो अनेक जड़ संस्कार मानव को बंदी बनाये हुए हैं उनके विरुद्ध वह अपनी दृढ़ आवाज़ उठाता है। जहाँ अब तक वह हाड़-माँस को सार्थकता से दूर भागता था, वहाँ अब कहता है --

कहाँ खोजने जाते हो
सुन्दरता औ आनन्द अपार ?

इस मांसलता में है मूर्तित
अखिल भावनाओं का सार।
मांस नहीं नश्वर रज,
ज्योतित मांस नहीं जड़ जीव-विलास,
अंतर बाह्य चतुर्दिक है तम,
रूप मांस है अमर प्रकाश !
शत वसंत, शत ग्रीष्म, शरद का
मांस बीज में है आवास,
ईश्वर है यह मांस, पूर्ण यह,
इसका होता नहीं विनाश !

अब तक हमने मनुष्य की दैहिक भूख को घृणा की दृष्टि से देखा है। काम हमारे लिए वर्जन और गोपन की वस्तु रहा है। युग-युग से हम वैराग्य, त्याग और नारी के सम्बन्ध में जुगुप्सा के गीत सुनते रहे हैं। हमारा युग विशेष रूप से अतिनैतिकता से ग्रसित है। परम्परागत रीति-शृंखला से बँधा मानव आज अपने बंधनों के प्रति विद्रोह कर उठा है। जब हम नई संस्कृति का शिलान्यास करते हैं तब हमें मानव के पशु की मुक्ति की बात भी सोचनी होती है। इसीलिए कवि कहता है—

मानव के पशु के प्रति
हो उदार नव संस्कृति !
युग युग से रच शत शत नैतिक बंधन
बाँध दिया मानव ने पीड़ित पशु-तन !
विद्रोही हो उठा आज पशु दर्पित,
वह न रहेगा अब नव युग में गर्हित !
नहीं सहेगा रे वह अनुचित ताड़न,
रीति-नीतियों का गत निर्मम शासन !

आज नर-नारी का प्रेम वासना के व्यक्तिगत बंधनों से बाहर निकल कर

एक अत्यन्त स्वाभाविक सामाजिक संस्कार बनने जा रहा है। मनुष्य की वासना ने नारी को स्मृतियों के इतने विधानों में कस लिया है कि उसका विकास ही लुंठित हो गया है। नई संस्कृति की बात उठती है तो नई नारी की बात पहले उठना चाहिये। कवि कहता है :

खोलो हे मेखला युगों की
कटि प्रदेश से, तन से।
अमर प्रेम ही बंधन उसका
वह पवित्र हो मन से।

अंगों की अविकच इच्छाएँ
रहें न जीवन – पातक,
वे विकास में बनें सहायक
होवें प्रेम प्रकाशक :

क्षुधा-तृषा ही के समान
युग्मेच्छा प्रकृति प्रवर्तित,
कामेच्छा प्रेमेच्छा बन कर!
हो जाती मनुजोचित

नर-नारी के उच्चवर्गीय संस्कारों के प्रति उसका मन विद्रोह कर उठता है। लज्जा से अवगुंठित नारी अंधकार युग का प्रतीक है। इस अवगुंठिता, सहज अपावन, हृदय-भीरु नारी के प्रति कवि की कुंठा कम नहीं है, परन्तु 'आधुनिका' के प्रति कवि का क्षोभ और भी बढ़ा हुआ है। वह कहता है :

शिक्षित तुम संस्कृत, युग के सत्याभासों में पोषित,
समकक्षिणी नरों की तुम निज द्वन्द्व मूल्य पर गर्वित।
नारी की सौन्दर्य मधुरिमा औ' महिमा से मंडित,
तुम नारी-उर की विभूति से, हृदय सत्य से वंचित!
प्रेम, दया, सहृदयता, शील क्षमा, परदुख-कातरता,

तुम में तप, संयम, सहिष्णुता नहीं त्याग, तत्परता
लहरी-सी तुम चपल लालसा श्वास वायु से नर्तित,
तितली सी तुम फूल फूल पर मँड़रातीं मधु क्षण हित !
मार्जारी तुम, नहीं प्रेम को करतीं आत्म समर्पण,
तुम्हें सुहाता रंग प्रणय, धन-पद-मद आत्म-प्रदर्शन !
तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी !

जिस तरह अवगुंठिता नारी काम-विकृत का चिन्ह है. उसी तरह यह आधुनिका। पंत ने अपने मन की नारी का आभास 'मज़दूरनी के प्रति' शीर्षक कविता में दिया है। यह नारी 'स्वीट पी' नहीं है जिसके लिए कवि कहे :

मृदुल मलय के स्नेह-स्पर्श से
होता तन में कम्पन,
जीवन के ऐश्वर्य-हर्ष से
करता उर नित नर्तन !
केवल हास-विलासमयी तुम
शोभा ही में शोभन,
प्रणय-कुंज में साँझ-प्रात
करती हो गोपन कूजन !
जग से चिर अज्ञात
तुम्हें बाँधे निकुंजगृह-द्वार !
कुल-वधुओं सी अयि सलज्ज सुकुमार !

यह नारी दूसरी ही है :

सर से आँचल खिसका है—धूल भरा जूड़ा,
अधखुला वक्ष, ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा।
हँसती बतलातीं सहोदरा सी जन-जन से,

यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप सा तन से।
कुलवधू सुलभ संरक्षणता से होकर वंचित,
निज बंधन खो, तुमने स्वतंत्रता की अर्जित।
स्त्री नहीं, आज मानवी बन गईं तुम निश्चित,
जिसके प्रिय अंगों को छू अनिलातप पुलकित।
निज द्वन्द्व प्रतिष्ठा भूल जनों के बैठ साथ,
जो बँटा रहीं तुम काम-काज में मधुर हाथ,
तुमने निज तन की तुच्छ कंचुकी को उतार,
जग के हित खोल दिये नारी के हृदय-द्वार।

केवल इस नारी की भव्य कल्पना के कारण ही पंत का यह नया काव्य अभी बहुत दिनों तक विस्फोटक बना रहेगा।

परन्तु इन इने-गिने विषयों के सम्बन्ध में ही कवि की प्रगतिशीलता देखने से काम नहीं चलेगा। पिछले चार-पाँच वर्षों में कवि ने जो कविताएँ लिखी हैं वे एक नई संस्कृति, एक नये जीवन-दर्शन, एक नई विचार-धारा का प्रवर्तन करने में समर्थ हैं। इन रचनाओं पर अलग-अलग विचार करते समय हमने इस विषय में कुछ विशेष कहा है। यहाँ हमें यही कहना है कि पंत के काव्य में हम उनके व्यक्तित्व की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति पा जाते हैं। आधुनिक हिन्दी कवियों में से किसी ने न इतना सौन्दर्य हमें दिया, न भाषा और शैली के इतने क्रान्तिकारी और सुष्ठु प्रयोग, न इतना उदात्त जीवन-दर्शन। हर्ष की बात है कि पंतजी हमारे बीच में क्रियाशील हैं—अभी उनका चिंतन ज़रा भी शिथिल नहीं हुआ, उनकी कल्पना अभी भी उर्वरा है। अभी उन्हें अपने जीवन-दर्शन की रूपरेखाओं में नया रंग, नया उभार भरना है।

युगवाणी

'युगवाणी' कवि पंत की सैद्धांतिक रचना है। उसमें मानव-जीवन, राजतंत्र, नर-नारी और आध्यात्मिक एवं भौतिक जीवन के सम्बन्ध में अनेक क्रान्तिकारी बातें कही गई हैं, परन्तु काव्य का रस उसमें अधिक नहीं है पंत ने इस संग्रह को स्वयं 'युगगद्य' कहा है। एक तरह से 'युग-वाणी' को कवि की अगली रचना 'ग्राम्या' की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि कहा जा सकता है। परन्तु काव्य केवल स्वप्न मात्र नहीं है—इससे 'युगवाणी' का आध्यात्मिक-राजनैतिक चिंतन अभिनंदनीय ही है।

१६३६ ई० के आसपास भारतीय राजनीति में एक नई शक्ति ने पदार्पण किया। यह समाजवाद या साम्यवाद की शक्ति थी। भारतीय राजनैतिक क्षेत्रों के लिए समाजवाद और साम्यवाद नए शब्द नहीं थे। १६२१ ई० की रूसी क्रांति के बाद ये शब्द संसार में प्रचलित हो गये थे। परन्तु इसी समय महात्मा गाँधी ने राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण किया और आध्यात्मिक साधनों को लेकर भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई आरम्भ की। गाँधीजी ने जिन मूल्यों पर बल दिया वे सांस्कृतिक मूल्य थे। सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, त्याग, कष्ट-सहन, आत्म-प्रताड़न और साधन की शुद्धता को एक महान् साम्राज्य के विरुद्ध शस्त्र की भाँति चलाया गया था। मानववादी पंत के लिए आध्यात्मिक अस्त्रों द्वारा लड़ी यह लड़ाई गौरव और अभिनन्दन का विषय थी। भारतीय संस्कृति में जो कुछ उन्नत और महान् था गाँधीजी उसके प्रतीक के रूप में सामने

आये। 'युगांत' की 'बापू के प्रति' कविता में कवि ने उनके नेतृत्व का अभिनन्दन किया है और उन्हें भावी मानव-जीवन के सूत्रधार के रूप में देखा है।

परन्तु इस बीच में कवि को कुछ समाजवादियों के सम्पर्क में आना पड़ा और उसने अपने चारों ओर के दुःख और क्रंदन के लिए एक निदान की खोज की। समाजवादियों के पास एक बना बनाया निदान था—मार्क्स और मार्क्सवाद। मार्क्सवाद के रूप में एक नया जीवनदर्शन कवि के सामने आया। कवि ने स्वयं मार्क्स की पुस्तकों और मार्क्सवाद पर लिखे हुए ग्रन्थों का अध्ययन किया। इस अध्ययन ने उसे जीवन के प्रति एक नए दृष्टिकोण की ओर इंगित किया। गाँधीवाद में आधुनिक मानव की सभी समस्याओं का समाधान नहीं था। वर्ग-संघर्ष मार्क्सवाद का मूलाधार है। गाँधीवाद का आधार है सहयोग, सर्वोदय। जहाँ मार्क्सवाद विज्ञानवादी है वहाँ गाँधीवाद अध्यात्मवादी। द्वन्दात्मक भौतिकवाद के रूप में मार्क्सवाद ने ऐसे जीवनदर्शन को प्रस्तुत किया है जो विकासवाद को मनुष्य के सामाजिक विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देता है। 'युगवाणी' के कवि ने मार्क्सवाद को स्वीकार कर लिया है, परन्तु गाँधीवाद को वह पूरा-पूरा अस्वीकृत नहीं कर सका है। हाँ, उसके आगे उसने बड़े-बड़े प्रश्न लगा दिये हैं। वह भूतवाद और अध्यात्मवाद में एक प्रकार के समन्वय की कल्पना करता है। यह समन्वय 'समाजवाद-गाँधीवाद' कविता में कुछ विस्तार के साथ चित्रित किया गया है :

साम्यवाद ने दिया जगत को सामूहिक जनतंत्र महान,
भवजीवन के दैन्य-दुःख से किया मनुजता का परित्राण !
अंतर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युग से निष्क्रिय, निष्प्राण
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु-विधान !
गाँधीवाद जगत में आया ले मानवता का नव मान,
सत्य-अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण !

गाँधीवाद हमें जीवन पर देता अंतर्गत विश्वास,
मानव की निःसीम शक्ति का मिलता उससे चिर आभास !
व्यक्ति पूर्ण बन, जग जीवन में भर सकता है नूतन प्राण,
विकसित मनुष्यत्व कर सकता पशुता से जन का कल्याण !
मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद,
सामूहिक जीवन-विकास की साम्य योजना है अविवाद !

साम्यवाद का आधार है भौतिकवाद। परन्तु कवि पूर्ण रूप से भौतिकवाद और विज्ञानवाद को स्वीकार नहीं करता। उसे इनकी सीमायें मालूम हैं। वह केवल जड़ वाह्य को ही नहीं देखता, चेतन अंतर को भी देखता है। उसका कहना है कि जीवन की धारा भौतिकता और आध्यात्मिकता के दो कूलों के बीच में बह रही है। केवल भौतिकता या केवल आध्यात्मिकता को ही जीवन का सत्य मानकर चलना भूल होगी। इसी से कवि बार-बार गाँधीजी की अभ्यर्थना करता है। मानव ने विज्ञान का संचय करके देशकाल पर विजय पाई है, परन्तु आज उसके पास हृदयतत्त्व का अभाव है, भावुकता का अभाव है, संग्रहणीय उच्च वृत्तियों का अभाव है। भौतिक सुख आज उसका जीवन-दर्शन बन गया है। भौतिकता के इस युग में गाँधीजी और उनका जीवन-दर्शन एक अत्यन्त संग्रहणीय तत्त्व के रूप में सामने आते हैं। यांत्रिक सभ्यता के स्थान पर कवि कहता है—

चाहिए विश्व को आज भाव का नवोन्मेष,
मानव-उर में फिर मानवता का हो प्रवेश।

परन्तु गांधीजी ने जन-क्रान्ति के लिए साधनों की शुद्धता के संबंध में जो कहा है उससे कवि का विश्वास डिग गया है। अहिंसा मनुष्य-मात्र के लिए श्रेष्ठ और उपार्जनीय तत्त्व है, परन्तु वह उसी समय जब जन विकसित हों। जहाँ जनता दुर्बल है वहाँ अहिंसा कायरता-मात्र होगी। हिंसा का अर्थ है विनाश। परन्तु विनाश भी सृष्टि के विकास का

साधन हो सकता है। इसलिए कवि हिंसा-अहिंसा के द्वन्द में पड़ना नहीं चाहता।

इस प्रकार कवि ने गाँधी और मार्क्स के बीच में अपना स्वतंत्र एक मार्ग निकाल लिया। गाँधीवाद और मार्क्सवाद दोनों अपूर्ण हैं। मार्क्स ने मनुष्य के बर्हिजीवन के लिए साम्य की योजना की है, गाँधी मनुष्य के चेतन को जाग्रत करते हैं। मार्क्स तन का पोषण करता है तो गाँधी मन और आत्मा को जड़-भूतों से ऊपर उठाकर स्वतंत्र और चेतन बनाता है। मानव न केवल तन है न मन और आत्मा। इसी से पंत ने अपने जीवन में तन और मन दोनों के लिए योजना की है। मार्क्स की हिंसा और गाँधी की अहिंसा दोनों ही साधन के रूप में उसे स्वीकार हैं। शर्त केवल यह है कि वे प्रगति के माध्यम बन सकें।

'युगवाणी' में सिद्धांतवाद की बू आती है, परन्तु ऐसा होना स्वाभाविक था। यह काव्य के लिए कोई बड़ा दूषण नहीं कहा जा सकता। गोरखनाथ, कबीर और तुलसी की वाणी में कुछ कम सिद्धांतवाद नहीं है। केवल इसी कारण इन महाकवियों का काव्य लांछित नहीं हो सकता। देखना यह है कि कवि ने अपने सिद्धान्तों को अपने हृदय रस से कितना संवंधित किया है। यह सच है कि पंत की संयत वाणी में उतनी उत्तेजना नहीं है, उतना आग्रह नहीं है जितना कबीर और तुलसी की वाणियों में। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इन महाकवियों की तरह उन्होंने भी जन-हित का स्वप्न देखा है और उस स्वप्न को अपने रक्त से सींचा है। उनके इस स्वप्न से बुद्धि का कोई विरोध नहीं। वास्तव में बुद्धिवाद ही इस स्वप्न की भित्ति है। परन्तु बुद्धि की प्रेरणा होने पर भी स्वप्न की स्फूर्ति तो उसमें है ही।

'गुंजन' और पंत

'गुंजन' को स्वयं पंत ने अपने प्राणों का 'उन्मन गुंजन' मात्र कहा है। 'उन्मन गुंजन मात्र'—अर्थात् कवि अभी आत्मचिंतन में ही तल्लीन है। वह अभी अपने तथ्यों के प्रकाशन के संबंध में संकोची है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उसने जीवन के प्रारम्भिक और मौलिक प्रश्नों पर बड़ी गंभीरता से विचार किया है। 'गुंजन' के विषय हैं आत्मचिंतन, प्रेम और प्रकृति। इनमें पहला विषय ही अधिकांश रचनाओं में व्याप्त है।

'पल्लव' और 'गुंजन' के बीच में कवि को क्षयरोगग्रस्त होकर मृत्यु-शय्या तक पहुँच जाना पड़ा था। पूर्ण स्वास्थ्यप्राप्त कवि से हम जीवन के नये स्पर्श और नई मंगलाशा की ही आशा रख सकते थे। अब सारा जगजीवन ही उसे सुन्दर और मंगलमय जान पड़ता है। सहसा वह गा उठता है :

सुन्दर मृदु मृदु रज का तन,
चिर सुन्दर सुख-दुख का मन,
सुन्दर शैशव-यौवन रे
    सुन्दर सुन्दर जगजीवन !
सुन्दर वाणी का विभ्रम,
सुन्दर कर्मों का उपक्रम,
चिर सुन्दर जन्म-मरण रे
    सुन्दर सुन्दर जगजीवन !

सुन्दर प्रशस्त दिशि अंचल,
सुन्दर चिर लघु, चिर नव पल,
सुन्दर पुराण-नूतन रे
सुन्दर सुन्दर जगजीवन !

यही नहीं, वह आशा करता है कि यह सौन्दर्य कभी कम नहीं होगा। जीवन सुन्दरता से अधिक सुन्दरता की तरफ़ बढ़ता जायगा। पूर्णता-जैसी किसी वस्तु की वह कल्पना भी नहीं करता—केवल आदर्श सुन्दरता की ओर क्रमिक विकास। यही जीवन का मौलिक तत्त्व है। सिद्धांत रूप में हमें इस विषय में कुछ नहीं कहना है। कवि का आशावाद इस समय इतना दृढ़-संकल्पी और इतना मुखर है कि वह दुःखवाद और निराशा को ज़रा भी स्थान नहीं देता। वह कहता है—

सुन्दर विश्वासों से ही
बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज-सहज साँसों से
चलता उर का मृदु स्पंदन।

परन्तु जिस तरह सुख है, उसी तरह दुःख भी जीवन का सत्य है। उसे भी एकदम आँख की ओट करना संभव नहीं है। कवि जीवन की विषमताओं का उचित समाधान नहीं पा रहा है। इसी से वह आकुल और उन्मन है। परन्तु इस उन्मनता के कारण को वह पूरा-पूरा समझ नहीं पाता। इसी से वह अपने को एक भुलावा देना चाहता है—वह दुःखी है इसलिए कि मानवजीवन अपूर्ण है। वह कहता है—

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्तृति के सुखमय स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष-विमर्षों का,
लगता अपूर्ण मानवजीवन !

दुःख के प्रति ऐसा दृष्टिकोण बहुत कुछ रहस्यवादी हो जाता है। कवि कहता है—

जाने किस छल-पीड़ा से
व्याकुल-व्याकुल प्रतिपल मन,
ज्यों बरस-बरस पड़ने को
हों उमड़-उमड़ उठते घन।

उसके लिए यह दुःख ही स्वाभाविक हो जाता है। इसे वह भावी सुख के लिए आवश्यक समझ लेता है:

दुख इस मानव-आत्मा का
रे नित का मधुमय भोजन,
दुख के तम को खा-खा कर
भरती प्रकाश से वह मन।

वास्तव में यह दुःख की भावना ही मिथ्या है। यह भावना इसलिए है कि हम जीवन से अधिक माँगते हैं या कम। 'ये आधी, अति इच्छाएँ' मनुष्य की शाश्वत् चिदानंद स्थिति को आघात पहुँचाती हैं। इनसे बचने का केवल एक ढंग है—सम्यक् इच्छा या 'सम इच्छा'। सुख-दुःख के प्रति मनुष्य तटस्थ रहे। वह निष्काम भाव से कर्म करता जाय। इस तरह उसके जीवन में संतुलन का जन्म होगा। तब दुःख दुःख नहीं रह जायेगा।

पर सुख-दुःख के बीच पटरी बैठाने का केवल यही ढंग नहीं है। मनुष्य यह समझे कि सुख-दुख एक उसी शाश्वत जीवन की दो भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। सुख है जीवन-सागर के ऊपर शाश्वत किरणों का खेल, दुःख है सागर के हृदय के भीतर का गम्भीर अवसाद। जीवन के नाते दोनों ही मनुष्य को प्रिय होने चाहिये:

सागर की लहर-लहर में
है हास स्वर्ण-किरणों का,

सागर के अन्तस्तल में
अवसाद अवाक् कणों का !
यह जीवन का है सागर,
जगजीवन का है सागर;
प्रिय प्रिय विषाद रे इसका,
प्रिय प्रि' आह्लाद रे इसका !

इसी नाते मनुष्य दुःख को अपना सके। कवि अपने दुःख पर लज्जित है। वह कहता है—

बन की सूनी डाली पर
सीखा कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख को अपनाना

दुःख को भी मनुष्य जीवन का ही एक अंग माने। यह दृष्टिकोण बहुत कुछ व्यक्तिगत दृष्टिकोण रह जाता है। इससे ससार के दुःखों का नाश तो होता नहीं। चारों ओर उमड़ते हुए दुःख के समुद्र में मनुष्य क्या करे ? वह कैसे निस्पृह रहे ? कवि केवल यह आशा करता है कि मनुष्यों के जीवन में सुख दुःख का ठीक-ठीक संतुलन स्थापित हो सके। परन्तु यह संतुलन किसी एक मनुष्य का मंगलाशा से तो स्थापित होगा नहीं। अभी कवि ने इसे नहीं समझा है—बाद में समझा है। 'युगवाणी' इसका प्रमाण है। परन्तु व्यक्तिगत रूप से वह बराबर इस संतुलन की प्राप्ति की साधना कर रहा है। चार पंक्तियों में उसका जीवन-दर्शन इस प्रकार है :

अस्थिर है जग का सुख-दुख,
जीवन ही नित्य चिरंतन !
सुख-दुख के ऊपर मन का
जीवन ही रे अवलम्बन !

'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' और 'युगांत' में कवि ने इस मन के जीवन को ही वाणी देना चाही है।

'गुंजन' के कवि का शाश्वत जीवन में विश्वास है। जो यहाँ है, वह सदैव ही नाश को प्राप्त होता हुआ जान पड़ता है, परन्तु वस्तुतः कभी नाश को प्राप्त नहीं होता। यह जीवन न जाने कब, किस स्रोत से, कैसे गतिमान हुआ परन्तु अब इसकी गति, इसका प्रवाह शाश्वत है। कवि कहता है—

इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम !
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास
शाश्वत लघु लहरों का विलास।
हे जगजीवन के कर्णधार ! चिर जन्ममरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका विहार।

(नौकाविहार)

इस शाश्वत जीवन-प्रवाह में जो कुछ भी है वह सब आकांक्षा के सूत्र में बँधा हुआ नाच रहा है। इस आकांक्षा के बंधन को तोड़ना सरल नहीं है। इसे तोड़ना तभी संभव है जब मनुष्य तटस्थ हो जाय, अपने में ही डूबा रहे, अपने ही स्वरूप में स्थित हो सके। साधारणतः ऐसा संभव नहीं है। यहाँ तो आकांक्षा के प्रवाह में बह जाना ही सत्य है :

आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बंधन-विवेक !
चिर आकांक्षा से ही थर् थर, उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर !
अविरत इच्छा ही में नर्तन करते अबाध रवि, शशि, उडुगन
दुस्तर आकांक्षा का बंधन !

(एक तारा)

नई-नई इच्छाओं के दल खुलते रहते हैं, नये-नये बंधनों में जीव नित्य बँधता रहता है। कवि को इन्हें अस्वीकार नहीं करना है। परन्तु उसे तप और संयम का जीवन ही अधिक प्रिय है। इच्छाओं के रंगीन फूल उसे आकर्षित करते हैं परन्तु तप और साधना में ही उसे जीवन की पूर्णता का आनंद आता है; अपने मन के स्वर्ण को तपा कर वह अपने ढंग पर जीवन की मूर्ति गढ़ना चाहता है। वह गाता है :

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्ववेदना में तप प्रतिपल,
जगजीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन !
अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन,
ढ़ल रे ढ़ल आतुर मन !

'गुंजन' में बार-बार एकांत साधना के ये तपः-पूत स्वर झंकार उठते हैं।

'गुंजन' का दूसरा विषय है प्रेम। द्विवेदीयुग के कवियों में ऐसे बहुत कम हैं जिन्होंने प्रेम के स्वस्थ और संयत गीत गाये हों। पंत की कविता का आरंभ प्रेम के गीतों से हुआ है। 'ग्रंथि', 'उच्छ्वास' और 'आँसू' के बाद 'गुंजन' के प्रेम के चिरपरिचित चित्र बड़े मोहक लगते हैं। उनके पीछे कवि की व्यक्तिगत अनुभूति नहीं है। परन्तु वे निर्वैयक्तिक गीत भी कवि की कल्पना और संकल्पात्मक अनुभूति के कारण बड़े प्रिय हैं। 'मधुवन' और 'भावी पत्नी के प्रति' कविताएँ इन प्रेम-कविताओं की सबसे सुन्दर मणियाँ हैं। इस प्रेम में न अतीन्द्रियता है, न पलायन। प्रेम के बन्धन को कवि पूर्णतः स्वीकार करता है। उसे वह आकाश से उतार कर गृही जीवन के बीच स्थापित करना चाहता है। इसीलिए उसके प्रेमीजीवन की अनुभति

बड़ी सरल और सुपरिचित है। आज जान पड़ता है जैसे सब कुछ बदल गया है। कवि प्रेयसी से प्रश्न करता है :

मुसकुरा दी थी क्या तुम, प्राण !
मुसकुरा दी थी आज विहान ?
आज गृह-वन-उपवन के पास
लोटता राशि-राशि हिमहास,
खिल उठी आँगन में अवदात
कुंद कलियों की कोमल प्रात।
मुसकुरा दी थी, बोलो, प्राण !
मुसकुरा दी थी तुम अनजान ?

वह उसे गृह-काज से विरत करके केवल अपने तक सीमित रखना चाहता है। इसीसे वह प्रेयसी से अनुनय-विनय करता है—

आज रहने दो यह गृह-काज !
प्राण, रहने दो यह गृह-काज !
आज जाने कैसी वातास
छोड़ती सौरभ-श्लथ उच्छ्वास,
प्रिये, लालस-सालस वातास,
जगा रोओं में सौ अभिलाष !

प्राचीन कवियों की नारी-सौन्दर्य-सम्बन्धी कल्पना से इस कवि की सौन्दर्य कल्पना नितांत भिन्न है। जहाँ प्राचीन कवि परम्परागत उपमानों को लेकर उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं की एक झड़ी ही लगा देता है, वहाँ आधुनिक कवि किसी एक उपमा विशेष को चुन लेता है और उसके आधार पर कल्पना और अनुभूति का महल खड़ा कर लेता है। प्रेयसी की आँखों को संबोधित कर कवि कहता है—

तुम्हारी आँखों का आकाश,
सरल आँखों का नीलाकाश—

खो गया मेरा खग अनजान,
मृगेक्षिणि ! इनमें खग अज्ञान !
देख इनका चिर करुण प्रकाश,
अरुण कोरों में उषा विलास,
खोजने निकला निभृत निवास,
पलक-पल्लव-प्रच्छाय निवास.
न जाने ले क्या-क्या अभिलाष
खो गया बालविहग नादान !

इस प्रकार की सुकुमार कल्पनाओं से पंत का काव्य भरा हुआ है। प्रेम के उदात्त, चिर नवीन, चिर आनन्दमय रूप के प्रति कवि का आग्रह विशेष रूप से है। रीतिकालीन और द्विवेदीयुगीन प्रेमभावना से यह भावना नितांत भिन्न है। पंत ने प्रेम को आधुनिक शब्दावली दी है और वासना और विलास के स्थान पर स्वस्थ प्रेम को काव्य का रूप दिया है। उनके प्रेम में पृथ्वी का स्पर्श अधिक नहीं है, परन्तु उसकी अतीन्द्रियता उसे विलासगर्त में गिरने से बचा लेती है।

आत्मचिंतन और प्रेम के बाद कवि का तीसरा प्रिय विषय प्रकृति है। अपनी प्रारंभिक रचनाओं में ही प्रकृति-प्रेम का परिचय कवि ने दिया है। 'पल्लव' के प्रकृतिचित्रों में कल्पना का अतिरेक था। यह अतिरेक कवि के प्रकृतिसम्बन्धी काव्य को असाधारण बना देता था। 'पल्लव' के प्रकृतिचित्रण के पीछे चिंतन का बल नहीं है। 'गुंजन' में प्रकृति के अलंकृत चित्रण की भावना ही अधिक है, परन्तु कवि का चिंतन उसके प्रकृतिचित्रों को बराबर पुष्ट करता रहता है। इस संग्रह में प्रकृति के अनेक रम्य चित्र मिलेंगे जो आज हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। 'नौका-विहार' और 'एक तारा' कविताओं में चाँदनी रात में गंगा और संध्या के बड़े सुन्दर चित्र गढ़े गये हैं। पर जहाँ चिंतन ही सब कुछ हो गया है, जहाँ कवि की प्रकृति-विषयक अनुभूति तर्कवाद और कल्पना के

आगे कुंठित हो गई है वहाँ वर्णन में वह प्रांजलता नहीं मिलती। कहीं-कहीं कल्पना इतनी सूक्ष्म हो गई है कि उससे प्रकृति-सौन्दर्य का कोई स्पष्ट चित्र उपस्थित नहीं होता। चाँदनी पर लिखता हुआ कवि जब कहता है—

वह नभ के स्नेह-श्रवण में
दिशि की गोपन सम्भाषण,
नयनों के मौन मिलन में
प्राणों की मधुर समर्पण

या

वह खड़ी दृगों के सम्मुख
सब रूप, रेख, रँग ओझल,
अनुभूति-मात्र-सी उर में
आभास शांत, शुचि, उज्ज्वल !
वह है, वह नहीं, अनिर्वच !
जग उसमें, वह जग में लय,
साकार चेतना-सी वह
जिसमें अचेत जीवाशय !

तब हम न किसी सौन्दर्यचित्र से परिचित होते हैं, न चाँदनी की आत्मा तक पहुँचते हैं। जो कुछ कल्पित है, वह किसी भी प्रकार इंद्रिय-ग्राह्य नहीं। वह केवल भावना का विषय है। कवि की अनुभूति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

'पल्लव' की अंतिम कविता में पंत ने स्वप्नों से विदा ले ली है, परन्तु स्वप्न किसी न किसी रूप में चलते रहते हैं। इनका रूप कुछ थोड़ा-बहुत बदला अवश्य मिलता है। 'अप्सरा' शीर्षक कविता में ये स्वप्न जैसे जड़ीभूत ही हो गये हैं। रवि बाबू की 'ऊर्वशी' कविता की थोड़ी छाया इस कविता पर अवश्य है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि कवि उतनी ऊँचाई पर

नहीं उठ सका है। फिर भी इस कविता के कुछ चित्र अत्यंत प्रौढ़ हैं—

इंद्रलोक में पुलक नृत्य तुम
करतीं लघुपद भार!
तड़ित-चकित चितवन से चंचल
कर सुरसभा अपार;
नग्नदेह में नवरँग सुरधनु
छायापट सुकुमार,
खोंस नील नभ की वेणी में
इंदु कंदु द्युति-स्फार।
स्वर्गंगा में जलविहार जब
करतीं, बाहु मृणाल
पकड़ पैरते इंदु-बिंब के
शत-शत रजत मराल;
उड़-उड़ नभ के शुभ्र फेन कण
बन जाते उडु बाल,
सजल देह-द्युति चल लहरों में
बिम्बित सरसिज-माल!

इस प्रकार की श्रृंखलित मूर्तिमत्ता इस कविता को 'पल्लव' की कल्पना-मूर्तियों (Fancies) से नितांत अलग श्रेणी में रख देती है। पाठक प्रतिदिन के जीवन से बहुत ऊपर उठकर कवि के लोक में ही निवास करने लगता है। चित्रों और स्वप्नों का वह देश कितना विचित्र होगा जहाँ कवि की कल्पना की अप्सरा निवास करती है।

अंत में हमे 'गुंजन' के दृष्टिकोण पर विचार करना है। 'गुंजन' से पहले कवि का दृष्टिकोण मुख्यतः निराशावादी या रहस्यवादी ही कहा जा सकता है। इस जीवन और जगत के अनेक परिवर्तनों के बीच में किसी व्यापक करुण भाव की सत्ता में कवि को विश्वास है। यह विश्वास जहाँ

उसे निराशा में बल देता है वहाँ उसे जीवन के आनंद और उल्लास से अपने को तादात्म्य नहीं करने देता। यह संसार उसे विचित्र और रहस्यमय जान पड़ता है, परन्तु यह विचित्रता उसे आतंकित भी कर देती है। 'पल्लव' की अंतिम कविता—'परिवर्तन'—में अवसाद और करुणा के स्वर और भी मुखर हो उठे हैं। कवि कहता है:

बिना दुख के सब सुख निःसार

परन्तु 'गुंजन' का कवि जीवन के आनन्द से भर गया है। जीवन की अपार संभावनाएँ उसे बराबर आश्वस्त किये रहती हैं। कितना व्यापक है यह जीवन और कितना अतुलनीय है इसका आनन्द:

जीवन का उल्लास,
यह सिहर, सिहर,
यह लहर, लहर,
यह फूल-फूल करता विलास!
रे फैल-फैल फेनिल हिलोल
उठती हिलोल पर लोल-लोल;
शतयुग के शत बुद्बुद् विलीन
बनते पल-पल शत-शत नवीन;
जीवन का जलनिधि डोल-डोल
कल-कल छल-छल करता किलोल!
डूबे दिशि-पल के ओर-छोर
महिमा अपार, सुषमा अछोर!
जगजीवन का उल्लास,
यह सिहर-सिहर,
यह लहर, लहर,
यह फूल-फूल करता विलास!

उसमें मनुष्य के प्रति अगाध स्नेह, अगाध आदरभाव का जन्म होता है।

वह उसे परिस्थितियों के हाथ की कठपुतली मात्र नहीं समझता। जीवन की अनंत क्षमता की तरह मनुष्य की क्षमताओं का भी कोई अंत नहीं। कवि जीवन के एक चिन्मय, स्वस्थ और आनन्दमुख तत्त्व की कल्पना करता है और उसके प्रति प्रार्थी होता है :

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योर्तिमय जीवन !
बरसो लघु-लघु तृण-तरु पर
हे चिर अव्यय, चिर नूतन !

जीवन की यही मंगलाशा 'गुंजन' के अनेक सुन्दर गीतों में बार-बार मुखरित हो उठी है।

निराला के काव्य में उनका व्यक्तित्व

निराला के काव्य में सब से ऊँचे स्वर उनके अपने व्यक्तित्व और अपनी तिरस्कृत साधना के स्वर हैं। आधुनिक कवियों के काव्य में निराला का काव्य ही ऐसा है जो उनके व्यक्तित्व का पूरा-पूरा प्रतिबिम्ब है, जिसमें ज़रा सी भी गाँठ नहीं है, जिसमें एक संघर्ष प्राण भावुक कवि की काव्य-साधना और उसके मन के घात-प्रतिघातों का बड़ा सुन्दर चित्र मिलता है। निराला का अधिकांश काव्य उनके व्यक्तित्व को इस शक्ति के साथ हमारे सामने रखता है कि हम उस से पराङ्मुख नहीं हो सकते। वह जैसे हमें पकड़ लेता हो। निराला से पहले किसी हिंदी कवि ने इतनी स्पष्टता और इतनी दृढ़ता से अपनी बात नहीं कही थी। १९२७ में ही हम कवि के हताश स्वरों से परिचित हो जाते हैं, परन्तु हम जान जाते हैं, यह तरुण कवि बाधाओं से हार नहीं मानेगा, वह जीवन संग्राम के लिए बद्ध-परिकर है। चारों ओर अंधकार है, आशा की एक भी किरण नहीं, परन्तु कवि प्रार्थी है—

जीवन चिर-कालिक क्रंदन।
मेरा अंतर वज्र-कठोर,
देना जी भरकर झकझोर,
मेरे दुख की गहन अंध—
तम-निशि न कभी हो भोर,
क्या होगी इतनी उज्ज्वलता—
इतना वन्दन—अभिनन्दन ?

बहुत दिनों तक हम यह हताश स्वर फिर नहीं सुनते। कवि अपने स्वरों

को विद्रोही स्वरों में मिला देता है। वह सारे संसार को नए ढंग से गढ़ना चाहता है। उसका संघर्ष सामाजिकता प्राप्त कर लेता है। 'उद्बोधन' और 'बादलराग' इसके साक्षी हैं। 'उद्बोधन' में वह सदियों के जड़े हृदय-कपाट खोलने की बात कहता है तो बादल-राग में स्पष्ट ही उसकी सहानुभूति उस शोषित वर्ग के प्रति है जो उसकी तरह बराबर संघर्ष-प्राण है। वह बादलों से कहता है:

रुद्ध कोष है, क्षुब्ध तोष,
अंगना-अंग से लिपटे भी
आतंक-अंक पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र-गर्जन से बादल !
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं !
जीर्ण बाहु है, शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर !
चूस लिया है उसका सार,
हाड़ मात्र ही है आधार,
ऐ जीवन के पारावार !

बादलों पर लिखी अनेक कविताओं में कवि ने स्पष्टतः ही बादलों के वीरत्व-पूर्ण व्यक्तित्व में अपना आरोप कर लिया है। जहाँ संघर्ष है, युद्ध है, गर्जन है, क्रांति है वहाँ कवि स्वयं प्रच्छन्न रूप से उपस्थित है। धीरे-धीरे कवि का यह व्यक्तिगत स्वर मुखर हो गया है। वह संघर्षों से टूट गया है परन्तु उसने हार नहीं मानी है। 'सरोजस्मृति' से उसके अनेक संघर्षों का बहुत सुन्दर चित्र हमें मिलता है। कवि अपने संघर्षों को याद करता हुआ कहता है:

एक साथ जब घात घूर्ण
आते थे मुझ पर तुले तूर्ण,

देखता रहा मैं खड़ा अचल
वह शर-क्षेप, वह रण-कौशल।
व्यक्त हो चुका चीत्कारोत्कल
क्रुद्ध युद्ध का रुद्ध कण्ठ-फल।
और भी फलित होगी वह छवि,
जागे जीवन-जीवन का रवि।
ले कर कल तूलिका—कला,
देखो क्या रंग भरती विमला;
वांछित उस किस लांछित छवि पर
फेरती स्नेह की कूची भर!

उसका यह गर्व व्यर्थ का वितडावाद नहीं है। बड़ी विनम्रता से उसने अपनी युग-व्यापी साहित्य-साधना की कहानी कही है। वर्षों तक निराला का जो विरोध होता रहा है, उससे जो परिचित हैं वे कवि के कथन की तथ्यता को स्वीकार करेंगे। विरोधी भावना के बीच कल्पना और कला की इतनी ऊँची एकांत साधना सरल कार्य नहीं थी, परन्तु निराला की इस तपस्या ने हिंदी का मस्तक ही ऊँचा किया है इसमें किंचित मात्र भी संदेह नहीं है। कवि-जीवन के आरम्भ में उन्हें कितनी आशा-निराशा का सामना करना पड़ा है, यह उन्हीं को पक्तियों में पढ़ना ठीक होगा। कवि उस समय की बात कह रहा है जब, २२-२४' में उसने पत्रों में पहली बार अपनी कविताएँ देना आरम्भ की थी। वह कहता है :

तब भी मैं इसी तरह समस्त
कवि-जीवन में व्यर्थ भी व्यस्त
लिखता अबाध-गति मुक्त छंद
पर सम्पादक-गण निरानंद
  वापस कर देते पढ़ सत्वर
  दे एक-पंक्ति-दो में उत्तर।

लौटी रचना ले कर उदास
ताकता हुआ मैं दिवाकाश
बैठा प्रांतर में दीर्घ प्रहर
व्यतीत करता था गुन-गुन कर
सम्पादक के गुण, यथाभ्यास
पास की नोंचता हुआ घास
अज्ञात फेंकता इधर-उधर
भाव की चढ़ी पूजा उन पर।

इन पंक्तियों में निराला की स्वाभाविक उच्छृंखलता है। सम्पादकों के ऊपर घास नोंच कर फेंकने का भाव उनका तीव्र विरोध ही सूचित करता है। जहाँ उन्होंने विनम्रता-पूर्वक अपनी हार को भी स्वीकार किया है, वहाँ भी वह अपनी साहित्यिक साधना के संबंध में पूर्णतः विश्वस्त रहे हैं। उसी कविता में वे कहते हैं :

यह हिंदी का स्नेहोपहार,
यह नहीं हार मेरी, भास्वर
यह रत्नहार—लोकोत्तर वर!
अन्यथा, जहाँ हैं भाव शुद्ध
साहित्य-कला कौशल-प्रबुद्ध,
हैं दिये हुए मेरे प्रमाण
कुछ वहाँ प्राप्ति को समाधान
पार्श्व में उन्हें रखकर समस्त
गद्य में, पद्य में समाभ्यस्त।
देखें वे, हँसते हुए प्रवर,
जो रहे देखते सदा समर।

इस गर्वीले, विनम्र, हठी, प्रेमी, सहृदय और साधनाप्रिय व्यक्तित्व की पुकार

निराला की अनेक पंक्तियों में गूँजती है और वह हमें अनायास ही प्रिय हो उठती है। 'वनबेला' कविता में उन्होंने अपनी अपुरस्कृत साधना का रूपक बड़ी सुन्दरता से उतारा है। कविता १६३७ की है जब कवि ने काफ़ी विरोध पार कर लिया था, परन्तु अपने जीवन के सपने भी उसने टूटते हुए देख लिए थे। वर्षा का आरम्भ हो रहा है। ग्रीष्म का ताप बढ़ रहा है। संध्या समय कवि नदी के किनारे विचरण करने निकला है। एक जगह एकांत में बैठ कर सोचता है, वह जीवन की लड़ाई में हार गया है :

मैं मंद गमन,
धर्माक्त विरक्त पार्श्व-दर्शन से खींच नयन,
चल रहा नदी-तट को करता मन में विचार
हो गया व्यर्थ जीवन,
मैं रण में गया हार !
सोचा न कभी—
'अपनी भविष्य की रचना पर चल रहे सभी।'
इस तरह बहुत कुछ
आया निज इच्छित स्थल पर
बैठा एकांत देखकर
मर्माहत स्वर भर।

एकांत में बैठा हुआ कवि सोचता है :

मैं भी होता
यदि राजपुत्र—मैं क्यों न सदा कलंक ढोता,
ये होते—जितने विद्याधर—मेरे अनुचर,
मेरे प्रसाद के लिए विनत-सिर उद्यत-कर
मैं देता कुछ, रख अधिक, किंतु जितने पेपर,
सम्मिलित कंठ से गाते मेरी कीर्ति अमर,

जीवन-चरित्र

लिख अग्रलेख अथवा, छापते विशाल चित्र।
इतना भी नहीं, लक्षपति का भी यदि कुमार
होता मैं, शिक्षा पाता अरब—समुद्र पार,
देश की नीति के मेरे पिता परम पण्डित
एकाधिकार रखते भी धन पर अविचल-चित्त
होते उग्रतर साम्यवादी, करते प्रचार,
चुनती जनता राष्ट्रपति उन्हें ही सुनिर्वार,
पैसे में दस राष्ट्रीय गीत रच कर उन पर
कुछ लोग बेचते गा-गा गर्दभ-मर्दन स्वर,
हिंदी सम्मेलन भी न कभी पीछे को पग
रखता कि अटल साहित्य कहीं यह हो डगमग,
मैं पाता खबर तार से त्वरित समुद्र पार,
लार्ड के लाड़लों को देता दावत-विहार,
इस तरह खर्च केवल सहस्र षट मास-मास
पूरा कर आता लौट योग्य निज पिता पास
वायुयान से, भारत पर रखता चरण कमल,
पत्रों के प्रतिनिधि-दल में मच जाती हलचल,
दौड़ते सभी, कैमरा हाथ, कहते सत्वर
निज अभिप्राय, मैं सभ्य मान जाता झुककर,
होता फिर खड़ा इधर को मुख कर कभी उधर
बीसियों भाव की दृष्टि सतत नीचे-ऊपर
फिर देता दृढ़ संदेश देश को मर्मांतिक,
भाषा के बिना न रहती अन्य गंध प्रांतिक,
जितने रस के भाव मैं कह जाता अस्थिर,
समझते विचक्षण ही जब वे छपते फिर-फिर,

फिर पिता-संग

जनता की सेवा का व्रत मैं लेता अभंग
करता प्रचार
मंच पर खड़ा हो, साम्यवाद कितना उदार।

व्यंग स्पष्ट है। कवि अपने मन में अपनी साहित्यिक साधना की राजनैतिक महापुरुषों की साधना से तुलना कर रहा है। तरुण राजनीति के शीर्ष जवाहरलाल उसके सामने हैं। परन्तु फिर क्या साहित्यिक की मौन साधना का कोई भी मूल्य नहीं है? कवि का अंतर्द्वंद्व यहाँ पूर्ण रूप से उभर कर हमारे सामने आ जाता है। तभी कवि बेला को देखता है—अकेली, निर्जन में लता-पत्रों में घिर कर हँसती उपवन-बेला

मस्तक पर लेकर उठी अतल की अतुल साँस
ज्यों सिद्धि परम
भेद कर कर्म-जीवन के दुस्तर क्लेश, सुषम
आई ऊपर
जैसे पार कर क्षार-सागर
अप्सरा सुघर
सिक्त-तन-केश शत लहरों पर
काँपती विश्व के चकित दृश्य के दर्शन-शर

वनबेला की इस एकांत तपस्या को कवि ने आश्चर्य से देखा। 'कविता में खुले कहाँ ऐसे दुग्ध-धवल दल' उसने सोचा। सहसा सांध्यबेला की बातास बह चली और कवि का हृदय-मन बेला की मंद सुरभि से भर गया। इस अयाचित दान ने उसे बेला के प्रति कृतज्ञ भाव से भर दिया। बेला से उसे नया जीवन-दर्शन प्राप्त होता है। बेला ने कहा—मैंने तो इस जीवन में केवल ममत्व (अपनेपन) का नाश किया है। यही खेल मैंने खेला है। कवि को अपने चारों ओर जो चमकते हुए मेले दिखलाई पड़ रहे हैं, उनके सम्बंध में बेला कहती है :—

यह जीवन का मेला
चमकता सुघर बाहरी वस्तुओं को लेकर,
त्यों-त्यों आत्मा की निधि पावन बनती पत्थर,
बिकती जो कौड़ी मोल
यहाँ होगी कोई इस निर्जन में;
खोजो, यदि हो समतोल
वहाँ कोई, विश्व के नगर-धन में।
है वहाँ मान
इसलिए बड़ा है एक, शेष छोटे अजान,
पर ज्ञान जहाँ,
देखना—बड़े-छोटे, असमान-समान वहाँ
सब सुहृद वर्ग
उनकी आँखों की आभा से दिग्देश स्वर्ग।

अपने सारे अपुरस्कृत जीवन में कवि ने वन-बेला के इसी सत्य से प्रेरणा प्राप्त की है। दूसरे प्रभात में कोई ब्राह्मण बेला को देवता की भेंट चढ़ाने के लिए तोड़ ले गया। साधक का पुरस्कार तो उसकी साधना के भीतर ही है, बाहर तो वह कहीं नहीं है। जब-जब कवि जीवन-संग्राम में लड़ता हुआ शिथिलता को प्राप्त हुआ, तब-तब उसने इस सत्य को लेकर नये वज्र का निर्माण किया और बार-बार नई शक्ति लेकर वह रंग-भूमि में उतरा है। बार-बार उसने वाणी की प्रार्थना की है। 'प्रगल्भ प्रेम' (१९२४) में कवि कहता है :

मेरे जीवन की तू, प्रिये, साधना,
प्रस्तरमय जग में निर्झर बन
उतरी रसाराधना।
मेरे कुंज-कुटीर द्वार पर आ तू
धीरे-धीरे कोमल चरण बढ़ा कर

ज्योत्सनाकुल सुमनों की सुरा पिला तू
प्याला शुभ्रकरों का रख अधरों पर ।
बहे हृदय में मेरे, प्रिय, नूतन आनंद-प्रवाह
सकल चेतना मेरी होये लुप्त.........

इसी समय की एक दूसरी कविता 'प्रलाप' में कवि फिर निवेदन करता है—

शांति—सरल मन की तू कोमल कांति——
यहाँ अब आ जा,
प्याला-रस कोई हो भर कर
अपने ही हाथों तू मुझे पिला जा
नस-नस में आनंद सिंधु की धारा, प्रिये बहा जा,
ढ़ीले हो जाये ये सारे बंधन
होये सहज चेतना लुप्त,
भूल जाऊँ अपने को, कर दे मुझे अचेतन ।

प्रारम्भ में कवि ने एक अजस्र आनन्द-प्रवाह के रूप में कविता की कल्पना की है। वह अपने सारे व्यक्तित्व को उसी में डुबाना चाहता है। परन्तु उसे शीघ्र ही पता लग गया कि कविता की साधना जीवन-व्यापी तपस्या है। न जानें कितने कवियों ने वाणी को कल्पना-कला के कितने हार पहनाये हैं! उसकी अपनी क्षुद्र भेंट का क्या मूल्य? भावुकता से भर कर कवि अपनी उस जीवन-व्यापी साधना की प्रतीक कविता देवी से पूछता है :

सेवक इतने कवि हैं—इतना उपचार
लिए हुए हैं दैनिक सेवा का भार,
धूप, दीप, चंदन, जल,
गंध-सुमन, दूर्वादल,
राग-भोग, पाठ विमल मंत्र,
पटु-करतल-गत मृदंग,

चपल-नृत्य विविध भंग,
वीणा वादित सुरंग तंत्र !
गूँज रहा सुंदर-मंदिर का दृढ़ द्वार,
वहाँ सर्व विषय हीन दीन नमस्कार
दिया भूपतित हो जिसने, क्या वह भी कवि ?
सत्य कहो सत्य कहो बहु जीवन की छवि ?

पूर्ववर्ती कवियों ने वाणी को जिन-जिन अलंकारों से अलंकृत किया है, उनकी बहुत सुन्दर कल्पना कवि ने की है :

पहनाये ज्योतिर्मय, जलधि-जलद-भास
अथवा हिल्लोल-हरित-प्रकृति-परित वास,
मुक्ता के हार हृदय,
कर्ण कीर्ण हीरकद्वय,
हाथ हस्ति-दंत-वलय मणिमय,
चरण स्वर्ण नूपुर कल,
जपालक्त श्री पद तल,
आसन शत-श्वेतोज्वल संचय !

परन्तु स्वयं दीन हृदय कवि के पास जो कुछ है उसे वह केवल 'मेरे कुछ भी नहीं' कह कर ही अर्पित कर सकता है। कविता की इतनी भावुक साधना अन्यत्र नहीं मिलेगी इस साधना में कवि ने अपना जीवन जला दिया है। परन्तु उसे बिश्वास है कि उसकी यह साधना व्यर्थ नहीं गई है। यही विश्वास उसे शक्ति देता है। 'हिन्दी के सुमनों के प्रति पत्र' में उसने सहज भाव से अपनी सारी साहित्यिक निधि को नई कवि-पीढ़ी के हाथ में सौंप दिया है। वह कहता है—

मैं जीर्ण साज बहु छिद्र आज
तुम सुदल सुरंग सुवास सुमन,

मैं हूँ केवल पदतल-आसन,
तुम सहज विराजे महाराज।
ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही बसंत का अग्रदूत,
ब्राह्मण-समाज में ज्यों अछूत
मैं रहा। आज यदि पार्श्वच्छवि।

यह सब है परन्तु वेदना के स्वर कभी-कभी उठ ही जाते हैं। कभी तो कवि इस गरल को भी अमृत की तरह पी जाना चाहता है :—

जला है जीवन यह
आतप में दीर्घ काल;
सूखी भूमि, सूखे तरु,
सूखे सिक्त आलवाल;
बंद हुआ गुंज, धूलि—
धूसर हो गये कुंज,
किंतु पड़ी व्योम-उर
बंधु नील मेघ-माल।

परन्तु यह मनोस्थिति सदा ही बनी नहीं रहती। १६४० के एक गीत में कवि गाता है :

मैं अकेला
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सांध्य बेला।
पके आधे बाल मेरे,
हुए निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मंद होती आ रही,
हट रही बेला।

जानता हूँ नहीं झरने,
जो मुझे थे पार करने,
कर चुका हूँ हँस रहा यह देख,
कोई नहीं मेला।

इस प्रकार अपनी विषम परिस्थितियों और अपनी दिवा-रात्रि साधना में कवि एक संतुलन स्थापित कर लेता है। यह संतुलन बराबर स्थापित नहीं रहने वाला है, यह स्पष्ट है। इसी से कभी कवि निराशावादी भी बन जाता है। वह कहता है :

स्नेह निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।

अपनी स्थिति का आरोप वह आम की सूखी डाल पर करता है। यह सामने आम की सूखी डाल है। कभी यह हरी थी। इसने भी जगत को फल-फूल दिये थे। अपनी प्रतिभा की प्रभा से इसने भी जगत को चकित किया है। परन्तु वह सब जैसे नश्वर था। अब न वहाँ पिक है न शिखी। कवि का विषाद भाव जैसे मूर्तिमान हो गया है :—

अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा,
श्याम तृण पर बैठने को, निरुपमा!
बह रही है हृदय पर केवल अमा,
मैं अलक्षित हूँ

यही कवि कह गया है।

(१६४२)

कभी वह स्वयं ही अपने हृदय को उद्बोधन देता हुआ कहता है— 'देख, हृदय, हुआ है सबेरा!' तुझे कोई नहीं पूछता। नहीं पूछे। तू इकेला चल। अँधेरा गया। वह कह उठता है :—

चलना है बहुत दूर रे,
नहीं वहाँ परी, नहीं हूर

इस प्रकार इस कवि को सारे जीवन भर विषम आर्थिक परिस्थितियों, पारिवारिक विडम्बनाओं, नियति-चक्रों और लोक-विरोध का सामना करना पड़ा है। इतने बवंडरों के बीच में भी कवि का स्वर शक्तिहीन नहीं हुआ है, यह कम श्रेय की बात नहीं। विरोध भाव ने उसके काव्य में उत्साह, साहस, ओज, मार्दव और व्यक्तिगत जीवन के दुःख-सुख के जो स्वर भर दिये हैं, वह उसकी सबसे बड़ी शक्ति हैं। निराला के जीवन की कथा अभी लिखी ही नहीं गई। वह स्वयं मौन हैं :

दुख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही।

कह कर उन्होंने सारे प्रश्नों का उत्तर दे दिया है। परन्तु उनका काव्य, उनका साहित्य, उनका व्यक्तित्व उनके संघर्षों के सम्बन्ध में इतना मुखर हैं कि हम उनकी अवहेलना नहीं कर सकते।

निराला के गीत

आधुनिक ढंग के गीत हिंदी कविता में १६१० के बाद आये। पं० श्रीधर पाठक, पं० मुकुटधर पांडेय, प० बालकृष्ण भट्ट प्रभृति कवियों ने गीतों की एक शैलो प्रतिष्ठित की और मैथिलीशरण गुप्त ने अनेक गीतात्मक कविताएँ लिखीं। निराला जी 'प्रसाद' को हिंन्दी के नये गीतों का प्रथम सृष्टिकर्ता मानते हैं। उन्होंने अपने नाटकों के लिए स्वतन्त्र रूप से अनेक गीतों की रचना की थी और उनके नाटकों का रचनाक्रम १६१२ ई० के लगभग प्रारम्भ होता है। १६२७-२८ तक 'प्रसाद' जी नाटकों के लिए अनेक गीतों की रचना कर चुके थे। उनके एक प्रसिद्ध गीत

चढ़ कर मेरे जीवन रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर,
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर,
उससे हारी होड़ लगाई।

को निराला जी ने कई जगह श्रेष्ठ गीत के उदाहरण-स्वरूप उद्धृत किया है। प्रसाद का 'बीती विभावरी जाग री' और 'माँझी, ले चल धीरे-धीरे' भी उन्हें प्रिय रहा है। गुप्त जी के अनेक गीतों के कठंस्थ करने की बात उन्होंने लिखी है और 'सभी दशाओं में सदैव है पर-हित-हेतु शरीर, प्रणाम !' गीत की बड़ी प्रशंसा भी की है। अतः यह स्पष्ट है कि निराला आरम्भ से

हिंदी गीत-परम्परा से परिचित थे और उनके गीत रवीन्द्रनाथ के बँगला गीतों का अंधानुकरण नहीं हैं। शैली, संगीत और भंगिमा की दृष्टि से वे हिंदी गीत-परम्परा के ही अधिक निकट हैं।

वैसे तो रीति-काव्य, चारण-काव्य और कथा-काव्यों (या महाकाव्यों) को छोड़ कर हिंदी का सारा प्राचीन काव्य ही गीत-काव्य है, परन्तु आधुनिक गीति-काव्य से इनका सीधा सम्बन्ध जोड़ना कठिन है। गीतों (पदों) की परम्परा अपभ्रंश काल में बौद्ध साधकों द्वारा आरम्भ की गई जान पड़ती है और फिर हिंदी में गोरखपंथियों, संतों, रामभक्तों और कृष्णभक्तों ने इसका बड़ा व्यापक प्रयोग किया। विद्यापति जैसे एक-दो कवियों की प्रेरणा साहित्यिक और कलात्मक ही अधिक रही, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि गीतों का विकास मुख्यतः लोक जीवन में हुआ। व्रजभाषा के पद हिंदी गीति-काव्य का सर्वोच्च विकास हैं और यह निश्चित है कि सूरदास से पहले व्रजप्रदेश के लोकजीवन में गीतों की एक परम्परा अपभ्रंश काल से चल रही थी। सूरदास और अष्टछाप के अन्य कवियों के पद इसी परम्परा की अंतिम कड़ी थे। साहित्य और लोक-जीवन का जो संबंध १६वीं शताब्दी में व्रज-प्रदेश में जुड़ गया था, वह फिर बहुत दिनों तक नहीं जुड़ सका। गीति-काव्य की सारी प्रेरणा साहित्यिक थी। उसमें गीति-काव्य को स्थान ही नहीं मिल सकता था। फलतः गीतों की परम्परा १६वीं-१७ वीं शताब्दी में ही समाप्त हो गई और खड़ीबोली के हिंदी कवियों को उसे नये रूप में नये आधारों पर विकसित करना पड़ा।

ये नये आधार मुख्यतः खड़ीबोली प्रदेश में चलने वाले लोकगीत थे जो लावनी, नौटंकी, भगत इत्यादि के लिए लिखे जाते थे। इनमें एक 'टेक' (स्थायी) रहती थी और ३ या ४ चरणों के बाद उस टेक की पुनरुक्ति होती थी। इस शैली को लेकर सबसे पहली साहित्यिक रचनायें श्रीधर पाठक ने उपस्थित की और छायावाद के जन्म (१६१० ई०)

तक अन्य अनेक कवियों ने इस नई गीत-शैली के विकास में भाग लिया। द्विवेदी युग के कवियों में मैथिलीशरण के काव्य में गीतात्मकता की प्रधानता विशेष रूप से थी। उनके देश-प्रेम के गीत राष्ट्रीय वीरों का कंठहार बन गये। छायावादी कवियों ने जब लिखना आरम्भ किया तो साहित्यिक गीतों के रूप में यही गीत उनका पथ-प्रदर्शन कर रहे थे।

नाटकों के लिये गीत अत्यंत महत्त्वपूर्ण वस्तु है। जयशंकर प्रसाद ने १९१२ ई० के लगभग नाटकों की रचना का आरम्भ किया। अपने एकांकी नाटकों में उन्होंने अधिकतः ब्रजभाषा के गीतों का ही प्रयोग किया है, परन्तु धीरे-धीरे वह खड़ीबोली के गीतों की ओर आये। उनके प्रारम्भिक गीत 'पद'-शैली पर ही रचे गये हैं, परन्तु शीघ्र ही उन्होंने 'टेक' वाली लोक-शैली अपना ली। नाटकों के लिए लिखे गये प्रसाद के भावुकता-भरे गीत नाटकों से बाहर भी प्रसिद्ध हुए और उन्होंने साहित्यिकों को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने स्वतंत्र रूप से गीतों की रचना आरम्भ की। 'परिमल' में निराला के जो गीत संग्रहीत हैं, वे इस प्रकार के पहले स्वतन्त्र गीत हैं। वैसे तो आधुनिक काव्य ही मुख्यतः गीतात्मक है परन्तु 'गीत' आधुनिक काव्य का एक विशिष्ट अंग भी है। उसमें किसी विशेष भाव को लेकर संगीत-तत्त्व की प्रधानता देते हुए एक सुन्दर संगठित रचना उपस्थित की जाती है जिसमें प्रभाव की एकता पर प्रमुखतयः ध्यान दिया जाता है। 'परिमल' की पहली कविता 'मौन' गीत ही है। परन्तु 'गीत' शीर्षक देकर कवि ने जो तीन-चार रचनाएँ इस संग्रह में प्रस्तुत की हैं वे विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। 'दूत, अलि, ऋतुपति के आए' गीत में कवि वसंत का चित्रण करता है। हरे पत्तों के हृदय से फूट कर स्वर-सप्तक दिगंत में छा रहे हैं। मन्द पवन के स्पर्श को पाकर प्रथम यौवन से उल्लसित विटपी काँप उठी। लाज से उसने प्रियतम (पवन) की ओर देखा। इसी से भाव-रूपी सुमन खिल पड़े। बड़ी सुन्दरता से कवि केवल दो-तीन छन्दों में वसन्त के उल्लास का चित्रण करता है :

बही हृदय-हर प्रणय-समीरण,
छोड़ छोर नभ-ओर बहा मन,
रूप-राशि जागी जगती-तन,
खुले नयन, भाए।
देख लोल लहरों की छल-छल,
सखियाँ मिल कहतीं कुछ कल-कल,
बही साँस में शीतल परिमल
तन-मन लहराए—
दूत, अलि, ऋतुपति के आये।

इसी प्रकार पावस का गीत है—'अलि, घिर आये घन पावस के।' इस गीत की सहज भाव-माधुरी का स्वयं कवि भी फिर सृजन नहीं कर सका। ब्रज-भाषा-साहित्य के पदों की सारी भाव-माधुरी जैसे इस गीत में घुल गई हो। 'गीतिका' में वर्षा पर कई गीत हैं परन्तु कला और काव्य-मर्मज्ञता के छल ने कवि की सहज काव्य-शक्ति का पथ रूँध दिया है। पूरा गीत इस प्रकार है :

अलि, घिर आए घन पावस के।
लख ये काले-काले बादल,
नील सिंधु में खुले कमल-दल,
हरित ज्योति, चपला अति चंचल,
सौरभ के, रस के—
अलि, घिर आये घन पावस के।
द्रुम समीर-कम्पित थर थर थर,
झरतीं धाराएँ झर झर झर,
जगती के प्राणों को स्मर-शर
बेध गए, कस के
अलि, घिर आये घन पावस के।

हरियाली ने, अलि हर ली श्री
अखिल विश्व के नव यौवन की
मंद गंध कुसुमों में लिख दी
लिपि जय की हँस के—
अलि घिर आये घन पावस के।
छोड़ गए गृह जब से प्रियतम
बीते अपलक दृश्य मनोरम,
क्या मैं हूँ ऐसी ही अक्षम,
क्यों न रहे वस के—
अलि घिर आए घन पावस के।

संग्रह में दो और गीत भी हैं—'हमें जाना है जग के पार' और 'निशा के उर को खिली कली'। पहले गीत में कवि रोमांस, प्रेम और ऐश्वर्य के एक कल्पना-लोक की झाँकी उपस्थित करता है :

जहाँ नयनों से नयन मिले,
ज्योति के रूप सहस्र खिले,
सदा ही बहती नव-रस-धार—
वहीं जाना, इस जग के पार।

दूसरे गीत में रात के वासक-सज्जा रूप का अत्यंत सुकुमार चित्र मिलता है :

भूषण-बसन सजे गोरे तन
प्रीति-भीति काँपे पग-उर-मन,
बाजे नूपुर रुन-रिन-रन-झन
लाज-विवश सिहरी।
खड़ी सोचती नमित नयन-मुख,
रखती पग उर काँप पुलक-सुख,
हँस अपने ही आप सकुच, धनि,
गति मृदु मंद चली

इन थोड़े से गीतों के बाद हमें 'गीतिका' के १०१ गीत मिलते हैं। इन गीतों के संबंध में जयशंकर 'प्रसाद' ने लिखा था—'गीतिका हिन्दी के लिये सुन्दर उपहार है। उसके चित्रों की रेखाएँ पुष्ट, वर्णों का विकास भास्वर है। उसका दार्शनिक पक्ष गम्भीर और व्यंजना मूर्तिमती है। आलम्बन के प्रतीक उन्हीं के लिये अस्पष्ट होंगे जिन्होंने यह नहीं समझा है कि रहस्यमयी अनुभूति, युग के अनुसार, अपने लिये विभिन्न आधार चुना करती है। केवल कोमलता ही कवित्व का मापदंड नहीं है। निराला जी ने नृम्ण और ओज, सौन्दर्य-भावना और कोमल-कल्पना का जो माधुर्य-मय संकलन किया है, वह उनकी कविता में शक्ति-साधना का उज्ज्वल परिचायक है।' इस कथन में बहुत कुछ सत्य है। 'गीतिका' के गीतों का अपना बड़ा विस्तृत संसार है। यह अवश्य है कि इन गीतों में 'परिमल' के गीतों जैसी सहज स्फूर्ति के अधिक दर्शन नहीं होते, कवि कला और संगीत के इंद्रजाल में खो-सा गया है, परन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि इनमें कितने ही गीत अत्यंत उच्चकोटि के हैं और उन्होंने हिन्दी गीति काव्य की परम्परा को स्थायित्व ही दिया है। भूमिका में निराला जी ने 'गीतगोविन्द' के समय से चली आती हमारी गीति-परम्परा का उल्लेख किया है परन्तु आधुनिक युग में इस परम्परा के ह्रास की ओर भी उनका स्पष्ट इंगित है। हिंदी प्रदेश के संगीतज्ञों में तुलसी के 'ऐसो सिय रघुबीर भरोसो' से लेकर नौटंकी के ढंग की "तोप-तलवारें धरी रह जायँगी मगरूर सुन' तर्ज की गीतियाँ प्रचलित थीं, परन्तु साहित्यिक गीत का कोई रूप निश्चित नहीं हो पाया था। निराला के गीत साहित्यिक गीतों की परम्परा को एक बार फिर प्रतिष्ठित करते हैं। उनके गीतों में 'देख दिव्य छवि लोचन हारे' ढंग के गीत भी हैं जो ब्रजभाषा की पदावली-परम्परा से बहुत दूर नहीं जाते और 'अस्ताचल रवि, जल छल-छल छवि' जैसे गीत भी हैं जो भाव, नाद, सौन्दर्य-विधान और भंगिमा में एकांततः आधुनिक हैं। 'गीतिका' के कुछ गीत सरस्वती, भारत-माता अथवा किसी अदृश्य अलौकिक चिन्मय सत्ता के

प्रति प्रार्थना-भाव का प्रकाशन करते हैं। पहले ही गीत में कवि वीणा-वादिनि से प्रार्थना करता है :

वर दे, वीणावादिनि वर दे !
प्रिय स्वतंत्र-रव अमृत-मंत्र नव
भारत में भर दे,
काट अंध उर के बन्धन-स्तर,
बहा, जननि, ज्योतिर्मय निर्झर,
कलुष-भेद-तम हर प्रकाश भर,
जगमग जग कर दे।

एक अन्य गीत में वह भारत के प्राचीन ऐश्वर्य की स्मृति जगाता हुआ गाता है :

जागो जीवन-धनिके
विश्व-पण्य-प्रिय वणिके !

कवि कहता है हे जननि, अगणित भक्त तेरी शरण में आ गये हैं। चारों ओर सुरभि भर गई है। पृथ्वी पर एक बार फिर वसंत का प्रादुर्भाव हो गया है। जो पंक की भाँति पतनोन्मुख थे, वे तेरा प्रेम पाकर पंकज की तरह खुल गये हैं। देखते हैं, आकाश में सूर्य की भाँति भारत की स्वतन्त्रता भासमान है। रात बीत गई है। दिशाएँ हँस रही हैं। अखिल के कंठ में तेरी मुक्ति की आनन्द-ध्वनि उठ रही है। एक दूसरे गीत में कवि अपने नर-जीवन के सारे स्वार्थ देश-माता के चरणों पर अर्पित करना चाहता है। फिर एक अन्य गीत में वह जीर्ण-शीर्ण प्राचीन को जला कर नव निर्माण के लिये आग्रह करता हुआ दिखलाई पड़ता है। देश की दुर्दशा का बड़ा सुन्दर अंकन इन पक्तियों में हुआ है :

स्पर्द्धान्ध जन, गात्र
जर्जर अहोरात्र,

शेष-जीवन-मात्र,
कुड्मल गताघ्राण ।

लोक-जीवन में स्पर्द्धा चल रही है। दिन प्रति-दिन देश का स्वास्थ्य क्षीण हुआ जा रहा है। केवल स्पंदन, केवल जीवन-मात्र शेष रह गया है जैसे गंध-शेष पुष्प हो। भारती के दो विनय-पद गीतिका के देश-प्रेम के सबसे सुन्दर गीत हैं। कवि ऐसी भारती की कल्पना करता है जिसके पैरों पर अर्घ्य-कुसुम की तरह लंका है, गरजती लहरों वाला समुद्र अनेक प्रकार से स्तवन करता हुआ पाद-पद्मों का प्रक्षालन कर रहा है, तरु-तृण-वन-लता बसन हैं जिनमें स्थान-स्थान पर पुष्प अंकित हैं, गंगा-यमुना के ज्योति-जलकणों का सुन्दर हार गले में है। हिम-तुषार का इस माँ का शुभ्र मुकुट है। ओंकार की ध्वनि उसके अधरों पर गूँज रही है। सारी दिशाएँ इस प्रणव ध्वनि से मुखरित हैं। लक्ष-लक्ष कंठ माँ की जय-ध्वनि गा रहे हैं। दूसरे गीत में कवि माता की बंदना करता है :

बन्दूँ पद सुन्दर तव,
छंद नवल स्वर-गौरव !
जननि, जनक-जननि-जननि,
जन्म-भूमि-भाषे !
जागो, नव अम्बर-भर
ज्योतिस्तर-वासे !
उठे स्वरोर्मियों-मुखर
दिक्-कुमारिका पिक-रव !
दृग-दृग की बँधी सुछवि
बाँधे सचराचर भव !

आधुनिक हिन्दी कवियों ने माँ की वन्दना के अनेक गीत लिखे हैं, परन्तु इस गीत का वन्दना स्वर उनमें भी नहीं मिलेगा। देश-भक्ति के

गीतों के साथ प्रकृति, प्रेम और सौन्दर्य के भी अनेक गीत गीतिका में आते हैं। प्रकृति-सम्बन्धी गीतों की हमने प्रकारान्तर में विवेचना की है। इसमें संदेह नहीं कि इनमें निराला अद्वितीय हैं। प्रभात का कितना सांकेतिक वर्णन है:

गई निशा वह, हँसी दिशाएँ,
खुले सरोरुह, जगे अचेतन,
बही समीरण, जुड़ा नयन-मन,
उड़ा तुम्हारा, प्रकाश-केतन !

बसंत-श्री के जागरण-प्रभात का इतना मनोहर चित्र कहाँ मिलेगा—

रंग गई पग-पग धन्य धरा—
हुई जग जगमग मनोहरा।
वर्ण-गंध धर मधु-मरंद भर,
तरु-उर की अरुणिमा तरुणतर,
खुली रूप-कलियों में पर भर
स्तर-स्तर सुपरिसरा।
गूँज उठा पिक-पावन पंचम
खग-कुल-कलरव मृदुल मनोरम,
सुख के भय काँपती प्रणय-क्लम
बन-श्री चारु-तरा।

इन गीतों में कवि ने एक बार फिर 'परिमल' की प्रकृति को नया जीवन दे दिया है। प्रकृति की कोई भी भंगिमा ऐसी नहीं होगी जो निराला के काव्य में नहीं मिलेगी। यह अवश्य है कि उनका काव्य बहुत कुछ अस्पष्ट है और कहीं इसी क्लिष्टता के कारण रस-परिपाक में बाधा होती है, परन्तु उनमें ऐसी पंक्तियाँ भी कम नहीं हैं जिनमें हमें प्रकृति की बड़ी सुन्दर झाँकी मिल जाती है।

प्रेम, वासना, मिलन-वियोग और नारी-सौन्दर्य के गीत भी कम नहीं हैं। कवि देह को अस्वीकार नहीं करता। एक गीत में उसने कहा है—'स्नेह की रागिनी बजी देह की सुर-बहार पर।' देह के इस छल का उल्लेख निराला के अनेक गीतों में मिलेगा। देह के आनन्द से आत्मा की तृप्ति का चित्रण साधारण कौशल का काम नहीं है। परन्तु कवि जानता है वासना के प्रखर मेघों के बरसने पर ही हृदय में प्रेम का अंकुर फूटता है :

स्पर्श से लाज लगी !
अलक-पलक में छिपी छलक
उर में नव राग जगी।
चुम्बन-चकित चतुर्दिक चंचल,
हेर, फेर मुख, कर बहु सुख-छल,
कभी हास, फिर त्रास, साँस बल,
उर सरिता उमगी।

परन्तु अधिकतर चित्रों में कवि केवल छवि का चित्रण-मात्र करता है और उसमें वासना की झंकार नहीं भरता। एक चित्र है—

स्नेह की सरिता के तट पर
चल रही युगल कमल-घट भर !
नयन-ज्योति में ज्ञान अकम्पित,
चली जा रही नत-मुख, विकसित,
जीवन के पथ पर अविचल चित,
छवि अपार सुन्दर।

एक दूसरे गीत में कवि प्रेयसी को अपनी सारी कविताओं के केन्द्र में देखता है। नये-नये कोमल दिशाओं के सहस्र-दल खुल गये, मध्य में तुम बैठी थीं। चिर अचपल। प्रतिपल न जाने कितना सौरभ-ज्ञान तुम से

निकल कर बह रहा था। एक अन्य गीत में कवि सुहागिनी का चित्रण करता है—जब यौवन का सूर्य तपने लगा तब उस पर छाँह करने के लिए प्रिय की बाँह की छाया आ गई। प्रिय अत्यन्त दूर हो, फिर भी हृदय में बहुत समीप जान पड़ता है। हृदय के सरोवर में वह समा गई है। उसने मधुर विहार से प्रिय का मन जीत लिया है और अब वहाँ प्रकाशवान चिंतामणि के रूप में विराजमान है। तन की लाज-भरी उस तरुणी का मन प्रिय-चरणों पर नत है। इस आत्मसमर्पण के कारण सब कुछ उसी का है। सारा संसार उसे सुन्दर लगता है। उसने प्रिय के प्राणों का हार पहन लिया है। वह स्वयं प्रिय के पलकों का सुघर स्वप्न बन गई है। छायावादी कवियों के लिए नारी किसी अपार्थिव पूर्णता का प्रतीक रही है। एक गीत में निराला ने लिखा है :

सकल गुणों की खान, प्राण तुम।
सुख की स्मृति, दुख की आकुल कृति,
जग-तम की धृति, ज्ञान, ध्यान तुम।

जहाँ तक प्रेम और वासना का सम्बन्ध है कवि सूक्ष्म और स्थूल, देह और आत्मा के बीच में झूल रहा है। परन्तु अनेक गीतों में वह अपने दृष्टिकोण में संतुलन भी स्थापित कर सका है।

गीतिका के सारे विषयों की समाप्ति यहीं नहीं हो जाती। अनेक गीत भाव और स्वर को इतनी स्पष्टता के साथ लेते हुए चलते हैं कि कवि की कला-दृष्टि पर आश्चर्य होने लगता है। अनेक गीतों का छन्द-विन्यास ही बड़ा आकर्षक है। मान की एक भंगिमा देखिये :

लाज लगे तो
जाओ, तुम जाओ !
फेर लो नयन,
चलो मंजु-गुंजर, धर

नूपुर-शिंजित-चरण,
करूँ वरण प्राणों में आ
छवि पाओ—
लाज लगे तो—

वेदना का यह विदग्ध-विलास देखिये :

जीवन के मंगल के
रवि अस्ताचल ढलके
निशि तिमिर-ग्रस्त,
वसन स्रस्त,
त्रस्त नयन छलके
तरुणी के, अम्बर पर—
वे गये असह दुख भर।

इन गीतों का वर्ण-विलास अद्भुत है। स्वयं निराला के शब्दो में—

वर्ण चमत्कार!
एक-एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार।
पद-पद चल बही भाव धारा,
निर्मल कल-कल में बँध गया विश्व सारा,
खुली मुक्ति बंधन से बँधी फिर अपार!
वर्ण-चमत्कार!
शत-शत रंग खिला, मिला प्राण,
गूँजे गगनांगण में ये अगण्य गान,
दिखी रूप की छवि झंकृत-कर स्वर-तार
वर्ण-चमत्कार!

इस वर्ण-चमत्कार के रहस्य को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेना कठिन है। खड़ीबोली की कर्ण-कटु और अचिक्कण शब्दावली में ब्रजभाषा

को स्निग्धता-मधुरता भर देना प्रतिभाशाली कवि का ही काम हो सकता है। यह सच है कि 'गीतिका' के अधिकांश गीतों में 'परिमल' के गीतों जैसी तरलता नहीं है। वे कुछ कल्पना-क्लिष्ट हैं। परन्तु सुन्दर गीत भी कम नहीं हैं। जहाँ कवि 'वेदांत', रहस्यवाद या सृष्टि की उत्पत्ति-लय के रहस्य समझाने लगता है, वहाँ वह गीत की आत्मा से दूर चला जाता है। परन्तु जहाँ विषय इतना क्लिष्ट नहीं है, वहाँ कवि की कल्पना और भाषा सहज ही नई-नई गीति-माधुरी के निर्माण में समर्थ है।

कामायनी

'कामायनी' के नायक मनु हैं। इन्हीं देव-संतान को लेकर कथा चलती है। जल-प्रलय में सारी देव-सृष्टि जलमग्न हो गई, केवल कुछ देव-संतान बच गये। मनु, श्रद्धा, इड़ा आदि इसी प्रकार की देव-संतान थे। जल-प्रलय से संतप्त मनु पर्वत के एक ऊँचे शिखर पर बैठ कर जलमग्न पृथ्वी का धीरे-धीरे निकलना देखते थे। देव-संतान के मन में पहली बार चिंता का जन्म हुआ। उषा का उदय हुआ। प्रकृति एक बार फिर हँसने लगी। मनु के मन में आशा का संचार हुआ। उन्होंने एक गुहा में अपना स्थान बनाया और अग्निहोत्र प्रारम्भ कर एक बार फिर कर्ममयी देव-संस्कृति का आह्वान किया। एक दिन यों ही समुद्रतट पर अकस्मात् श्रद्धा से भेंट हो गई। श्रद्धा उन्हें तपमय जीवन से हटा कर दया, माया, ममता सम्पन्न मानव-जीवन की ओर अग्रसर करती है। श्रद्धा मनु के साथ रहने लगी। उधर धीरे-धीरे काम के स्वर मनु के हृदय में बोलने लगे। जीवन के अनेक उपकरण इकट्ठे होने लगे। काम-बाला श्रद्धा के प्रति उन्होंने आत्म-समर्पण कर दिया। मनु यज्ञ और कर्म में लग गये। जल-विप्लव से बचे हुए असुर-पुरोहित किलात और आकुलि यज्ञ के लिए प्रस्तुत होते हैं। मनु पशु-यज्ञ करते हैं परन्तु श्रद्धा इस पशु-वध से कुंठित हो जाती है। परन्तु श्रद्धा को मनते देर नहीं लगती। मनु जीवन में एक नये सुख का अनुभव करते हैं। इस नारी-विजय के बाद मनु का जीवन बदल जाता है। उनमें उच्छृंखल कर्मठता जाग उठती है। उधर श्रद्धा आसन्न-प्रसव

की चाह में अधीर है। एक सुन्दर लता-कुंज बनाती है। मनु नहीं चाहता कि श्रद्धा का प्रेम इस तरह बँट जाये। वह स्वच्छंद बना रहेगा। उसमें ईर्ष्या का उदय होता है और वह श्रद्धा को छोड़ कर चला जाता है। हृदय में तर्क-वितर्क का माया-जाल लिये अंतः-संघर्ष में तपते हुए मनु सरस्वती के किनारे घूमते हैं। वहीं उन्हें सारस्वत प्रदेश की अधिष्ठात्री देवी इड़ा का अकस्मात् परिचय होता है। सारस्वत प्रदेश उजड़ चुका है—इड़ा मनु का स्वागत करती है और शासन-सूत्र उसके हाथ में दे देती है। उधर श्रद्धा प्रतीक्षा में है। उसकी आकुल विरह-वेदना का अत्यंत स्पष्ट चित्र उपस्थित किया गया है। इस सारे दुःखी वातावरण में उसका एक मात्र सहारा है, उसका बालक मानव (मनु-पुत्र) जो पिता का मुख नहीं देख पाया है। श्रद्धा (कामायनी) स्वप्न देखती है। मनु किसी दूर प्रदेश में किसी सुकुमारी (इड़ा) के संयोग से एक नई देव-सृष्टि की रचना करते हैं, परन्तु प्रजा असन्तुष्ट हो कर विरोध पर तुल जाती है। वास्तव में श्रद्धा का स्वप्न सत्य का आभास मात्र है। सारस्वत प्रदेश में प्रजापक्षी किरात और आकुलि (असुर) और राज्यश्री मनु (देव) में भीषण युद्ध हुआ जिसमें मनु आहत होकर गिर पड़े। युद्ध के बाद सारस्वत प्रदेश जैसे उजड़ गया और मनु को भीषण पश्चाताप ने घेर लिया। इड़ा तर्क-वितर्क करती बैठी थी कि श्रद्धा की पुकार कानों में आई जो 'मानव' का हाथ पकड़े मनु को खोजती हुई आ पहुँची थी। वेदी-ज्वाला के प्रकाश में घायल मनु को देख कर श्रद्धा का हृदय उमड़ पड़ा। मनु ने आँखें खोलीं। बिछुड़े मिले। श्रद्धा के स्नेहोपचार ने मनु की आँधी को शान्त किया, परन्तु प्रातःकाल सब ने देखा, मनु नहीं हैं। शान्ति की खोज में वे श्रद्धा, इड़ा और मानव को छोड़ कर कहीं दूर चले गये। सारस्वत प्रदेश को त्याग इड़ा, मानव और श्रद्धा मनु की खोज में निकले और मंदाकिनी के किनारे एक पर्वत-प्रदेश में तप करते हुए मनु मिल गये। श्रद्धा मनु को ज्ञान, कर्म और भाव लोक (त्रिपुर) का दर्शन कराती है और दोनों

प्राणी इस संधि-भूमि में आनन्द की साधना करते हैं। इड़ा और मानव इन संसार त्यागी महान् आत्माओं से मिलने आते हैं। मनु मानव को उपदेश देते हैं। प्रकृति के मादन दृश्य के साथ पटाक्षेप।

स्पष्ट है, केवल कथावस्तु के नाम पर विशेष मौलिकता नहीं है। जैसा भूमिका में कहा गया है, कथा पौराणिक सूत्रों से आगे बढ़ती है। "श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को रूपक के आवरण में चाहे पिछले काल में मान लेने का वैसा ही प्रयत्न हुआ हो, जैसा कि सभी वैदिक इतिहासों के साथ निरुक्त के द्वारा किया गया, परन्तु मन्वंतर के अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवर्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गई है। इसीलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष मानना उचित है।" (आमुख, ३) "यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन् के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है।" (वही, ४) "देवगण के उच्छृंखल स्वभाव, अर्थात् निर्बाध आत्मतुष्टि में अंतिम अध्याय लगा और मानवीय भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नये युग की सूचना मिली। इस मन्वन्तर के प्रवर्तक मनु हुए (वही ४)। "श्रद्धा काम-गोत्र की बालिका है, इसीलिए श्रद्धा नाम के साथ उसे कामायनी भी कहा जाता है'। (वही, ५)। "मनु प्रथम पथ-प्रदर्शक और अग्निहोत्र प्रज्ज्वलित करने वाले तथा अन्य कई वैदिक कथाओं के नायक हैं × × × जलप्लावन का वर्णन शतपथ ब्राह्मण के प्रथम कांड के ८ वें अध्याय से आरम्भ होता है; जिसमें उनकी नाव उत्तर गिरि हिमवान में पहुँचने का प्रसंग है। वहाँ ओघ के जल का अवतरण होने पर मनु भी जिस स्थान पर उतरे उसे मनोरवसर्पण कहते हैं" (वही, ५—६)। श्रद्धा के साथ का मिलन होने के बाद उसी निर्जन प्रदेश में उजड़ी हुई सृष्टि को फिर से प्रारम्भ करने का प्रयत्न हुआ। किन्तु असुर पुरोहित के मिल जाने से मनु ने पशु-बलि की। इस यज्ञ के बाद मनु में जो पूर्व परिचित देव

प्रवृत्ति जाग उठी, उसने इड़ा के सम्पर्क में आने पर उन्हें श्रद्धा के अतिरिक्त एक दूसरी ओर प्रेरित किया।

अनुमान किया जा सकता है कि बुद्धि का विकास, राज्यस्थापना आदि इड़ा के प्रभाव से ही मनु ने किया। फिर तो इडा पर भी अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा के कारण मनु को देवगण का कोप-भाजन होना पड़ा। (वही, ७)

इस वैदिक आख्यान और पौराणिक गाथा को निरुक्तकारों ने सांकेतिक रूप देने का प्रयत्न किया है। मनु=मन, श्रद्धा=श्रद्धा [कामायनी=काम (इच्छा) की जाया]; इड़ा (इला)=बुद्धि। इड़ा मनुष्यों का शासन करती है—इड़ामकृण्वन्मनुषस्य मानसीम् १—३१—११ ऋग्वेद। शतपथ ब्राह्मण में इड़ा (वाक्-पुत्री) और मनु (मन) अपने-अपने महत्त्व के लिए झगड़ते हैं।

स्पष्ट है कि इन संकेतों के आधार पर एक विशद् रूपक की सृष्टि हो सकती है। मनु को श्रद्धा का सहज ही परिचय होता है, श्रद्धा सहज ही वरेण्य है, और मानव इसी की संतान है। प्रगति का मूल मंत्र यही है कि मन श्रद्धा-सम्पन्न होकर आगे बढ़े। परन्तु मन और श्रद्धा के बीच में एक महान् व्यवधान के रूप में आती है "इडा"। बुद्धि और श्रद्धा का द्वन्द्व चलता ही रहता है। मनु और श्रद्धा के सहयोग से जिस सृष्टि का जन्म होता है. उसे असुर (अहं)-भाव नष्ट कर देता है। देव-सृष्टि में आसुरी आनन्द-भाव का मिश्रण मानवता का ह्रास है। इस आसुरी आनन्द-भाव में प्रेम के स्थान पर वासना और त्याग की मूर्ति श्रद्धा (आत्म-समर्पण) को छोड़ कर मनु का चले जाना इसी संघर्ष का प्रतीक है।

इड़ा के संयोग से मनु दूसरी सृष्टि रचते हैं। वह है बुद्धिवादी विज्ञान-मयी सृष्टि। इस विज्ञानमयी ऐश्वर्यशाली सृष्टि का मनु ने बड़ा सुन्दर चित्रण किया है—

मनु का नगर बसा है सुन्दर सहयोगी हैं सभी बने
दृढ़ प्राचीरों में मंदिर के द्वार दिखाई पड़े घने
वर्षा-धूप-शिशिर में छाया के साधन सम्पन्न हुए
खेतों में हैं कृषक चलाते हल प्रमुदित श्रम स्वेद सने
उधर धातु गलते, बनते हैं आभूषण औ अस्त्र नये
कहीं साहसी ले आते हैं मृगया के उपहार नये
पुष्प-लावियाँ चुनती हैं बन-कुसमों की अधविकच कली
गंध चूर्ण था लोध कुसुमरज, जुटे नवीन प्रसाधन थे
घन के आघातों से होती जो प्रचंड ध्वनि रोष भरी
तो रमणी के मधुर कंठ से हृदय-मूर्च्छना उधर ठड़ी,
अपने वर्ग बना कर श्रम का करते सभी उपाय वहाँ
उनकी मिलन प्रयत्न प्रथा से पुर की दिखती निखरी
देश-काल का लाघव करते-से प्राणी चंचल से हैं
उसका धन एकत्र कर रहे जो उनके सम्बल में है
बढ़ा ज्ञान-व्यवसाय, परिश्रम-बल की विस्तृत छाया में
नर-प्रयत्न से ऊपर आवें जो कुछ वसुधातल में हैं
सृष्टि-बीज अंकुरित, प्रफुल्लित, सफल हो रहा हरा-भरा
प्रलय-बीज भी रक्षित मनु से वह फैला उत्साह-भरा
आज सचेतन प्राणी अपनी कुशल कल्पनाएँ करके
स्वालम्ब की दृढ़ धरती पर खड़ा, कहीं अब नहीं डरा

रन्तु बुद्धि (इड़ा) मन पर राज करती है, उसके शासन में नहीं आती।
सी से मन (मनु) क्षोभ से पीड़ित रहता है। वह कहते हैं—

नहीं अभी मैं रिक्त रहा
देश बसाया पर उजड़ा है सूना मानसदेश यहाँ
सुन्दर मुख, आँखों की आशा, किंतु हुए ये किसके हैं
एक बाँकपन प्रतिपद शशि का, भरे भाव कुछ रिस के हैं

कुछ अनुरोध मानमोचन का करता आँखों का संकेत
बोल अरी मेरी चेतनते ! तू किसकी, ये किसके हैं !

मनु में इड़ा (बुद्धि) को स्ववश करने की लालसा अत्यन्त तीव्रता से जाग्रत हो जाती है। इड़ा मनु (मन) की दुहिता है। उस पर अधिकार करने की प्रवंचना के कारण प्रकृति में विस्फोट होते हैं। आत्मजा प्रजा के प्रति कुत्सित भाव ! इड़ा-व्यापी चेतना में विद्रोह की ज्वाला जल उठी।

आहत मनु को इस बार इड़ा (बुद्धि व्यापार) से घृणा हो जाती है। श्रद्धा उन्हें एक बार फिर सहारा देती है। इड़ा (बुद्धि)—प्रताड़ित मन को श्रद्धा ही तो सान्त्वना दे सकती है। उन्हें श्रद्धा के प्रति अपने अत्याचार की याद आती है और वे भाग जाते हैं। उधर इड़ा श्रद्धा से क्षमायाचना करती है। इस प्रकार इड़ा या बुद्धि का श्रद्धा से व्यवहार कर लेखक एक नये समन्वय की ओर संकेत करता है। इड़ा (बुद्धि) कहती है—

अग्रसर हो रही यहाँ फूट
सीमाएँ कृत्रिम रहीं टूट
श्रम-भाग वर्ग बन गया जिन्हें
अपने बल का है गर्व उन्हें
नियमों की करनी सृष्टि जिन्हें
विप्लव की करनी वृष्टि उन्हें
सब मत्त पिये लालसा घूँट
मेरा साहस अब गया छूट
मैं जनपद-कल्याणी प्रसिद्ध
अब अवनति कारण हूँ निषिद्ध !

(दर्शन)

श्रद्धा मानव (मनु – श्रद्धा—) पुत्र और इड़ा को छोड़ कर मनु की खोज में निकलती है। वह कहती है—

हे सोम्य, इड़ा का शुचि दुलार
हर लेगा तेरा व्यथा-भार
यह तर्कमयी ! तू श्रद्धामय
तू मननशील, कर कर्म अभय
इसका तू सब संताप-निचय
हर ले, हो मानव-भाग्य-उदय
सब की समरसता कर प्रचार
मेरे सुत सुन माँ की पुकार
(दर्शन)

तर्क (इड़ा), श्रद्धा (श्रद्धा) और मनन (मनु) पूर्ण कर्म-निरत मानव ही नये संसार की दाग़बेल डालेगा—यही कवि को वांछित है। दार्शनिक परिभाषा में इसे ज्ञान, भाव और कर्म की त्रिमूर्ति का एकीकरण कह सकते हैं। इस एकीकरण में ही आनन्द का चिर विलास है। तांडव-नृत्य-पर नटेश (शंकर) सत्ता में व्याप्त महानंद के प्रतीक हैं। इस सत्य तक पहुँचने वाली श्रद्धा ही है जो मनु का नेतृत्व करती है और उन्हें इच्छा (इड़ा) ज्ञान (मनु) और भाव के त्रिकोण के बीच में आनन्द-पिंड (चिदानंदमयी सत्ता) का दर्शन करती है। श्रद्धा आनन्द की प्रेरणा-शक्ति है। इसी के इंगित से ज्ञान, इच्छा और कर्म में समन्वय स्थापित होता है। ज्ञान, कर्म और भाव (इच्छा) के अप्रतिहत आलिंगन को ही अमृतत्त्व (जीवन की पूर्णता) कहेंगे। तीनों का अलग-अलग रहना मृत्यु है, दुःख है। इसी त्रिपुर को बध करने के कारण शिव त्रिपुरारी हैं। आनन्द (शिव) में ज्ञान, भाव और कर्म के त्रिगुणों का परिहार है।

'कामायनी' का अपना एक संदेश है। उसे हम दार्शनिक पक्ष नहीं कह सकते—जीव, आत्मा, परमात्मा जैसे गंभीर विषयों पर कवि को कुछ

भी कहना नहीं है। आधुनिक जिज्ञासा उतनी आध्यात्मिक नहीं है, जितनी अधिभौतिक। अतः आज के कवि के लिए जीवन-दर्शन ही सब कुछ है। मनुष्य अपनी नैसर्गिक विभिन्न शक्तियों का प्रयोग कैसे करे? उसके जीवन का क्या लक्ष्य हो? वैयक्तिक और सामूहिक चेतना में समन्वय कैसे स्थापित हो? ज्ञान, श्रद्धा, कर्म इन त्रिसत्यों को किस अनुपात में ग्रहण किया जाये। वर्तमान युग विज्ञानमयी तर्क-प्रवीण बुद्धि-मत्ता का युग है। पिछला युग श्रद्धामूलक विश्वास का युग था। तब भाव की विजय थी, अब तर्क (बुद्धि) की। प्रसाद ने दोनों युगों में ठीक पटरी बिठाने की चेष्टा की है। वर्तमान सभ्यता विज्ञान-प्रधान और बुद्धिजीवी है—इसीलिए अधिकारों पर बल है, और वर्ग-संघर्ष के बादल चारों ओर उमड़ रहे हैं। प्रसाद का संदेश है कि विज्ञान और बुद्धि की अपनी सीमाएँ हैं—ये असुर भाव को जाग्रत करते हैं। देवभाव की जाग्रति के लिए श्रद्धा की ओर देखना होगा। आनन्द ही सत्य है। आनन्द शिव (कल्याण)-मूर्ति भी है। इसी आनन्द की प्राप्ति भावी जीवनदर्शन होगा। इसके लिए हृदय-बुद्धि का सामंजस्य आवश्यक है। इड़ा (बुद्धि) और श्रद्धा की सहयोग से ही मानव (मननशील प्राणी) सच्चे स्वर्ग-सुख की प्राप्ति कर सकेगा। ध्येय न इड़ा है, न श्रद्धा, आनन्द है। इस विश्व के मूल में आनन्द ही है जिसके प्रतीक-रूप में ऋषियों ने शंकर के तांडव-नृत्य की कल्पना की है। प्रत्येक जीव इस महानन्द का प्रतीक है, स्फुलिंग है। जिस प्रकार ज्वाला अग्नि द्वारा प्रकट होती है, उसी प्रकार श्रद्धा-बुद्धि के समन्वय से युक्त जीवन में आनन्द की अग्नि स्वतः फूट पड़ेगी। जीवन के भीतर का आनन्द बाहर प्रगट होगा और वह इस विश्व-प्रपंच में शिव (कल्याण) के तांडव-नृत्य (आनन्दोल्लास) का दर्शन करेगा। श्रद्धा के शब्दों में—

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत
वह रूप बदलता है शत-शत

कण विरह-मिलन-मय नृत्य-निरत
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत
तल्लीनपूर्ण है एक राग
झंकृत है केवल 'जाग जाग' !
(दर्शन)

इस प्रकार कामायनी एकांगी, अव्यावहारिक, निर्बल तथा ह्रासोन्मुख रूढ़ि के स्थान पर, व्यापक और बहुमुखी जीवन-दृष्टि का संदेश सुनाती और नियोजना करती है ' (नन्ददुलारे वाजपेई—'जयशंकर प्रसाद' पृ० ८८)। मानव-दर्शन का पहला सफल प्रयोग 'कामायनी' में हुआ है। मनु मनस्तत्त्व के प्रतीक हैं। स्वयं मनु अपूर्ण हैं जब तक श्रद्धा से उनका योग नहीं होता। मनस्तत्त्व पर जब श्रद्धा की छाप पड़ती है, तो सहज मानव-भाव का जन्म होता है। सहज मानव-भाव (मनस्तत्त्व-श्रद्धा) को इड़ा (बुद्धि) के साथ सारस्वत (बौद्ध) प्रदेश का शासन सौंप दिया जाता है। इड़ा मानव की सौतेली माँ है। मनु के नाते वह मानव-भाव का भी पोषण करती है। मनस्तत्त्व श्रद्धा और बुद्धि के सहारे कर्मपथ को पहचान कर आगे बढ़े, यह प्रसाद का संदेश है। इसी से यह कामायनी की कथा तो है ही मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक भावात्मक विकास में सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है। 'कामायनी' मनु (मन) के विकास की कथा है। मनु (मन) का सहज नर भाव है चिंता (मनस्तत्त्व)। शुद्ध देव भाव में तो चिंता है ही नहीं, मन अविकारी स्पन्दन मात्र है। देवभाव के नाश (जल पावन, प्रलय) के बाद मन में विकार (चिंता) का उदय होता है। अतः नर-भाव से मन का एकांतिक गुण 'चिंता' हो गया है। काम (इच्छा)—कुमारी श्रद्धा ही इस विकार (चिंता) को दूर कर सकती है। परन्तु श्रद्धा में रंगीनी नहीं, इड़ा में वह है। अतः मनु इड़ा के चक्र से जब तक प्रताड़ित नहीं होते, तब तक श्रद्धा के वास्तविक मूल्य को नहीं समझते।

तब श्रद्धा ही उन्हें भाव-भूमि पर खड़ा करती है। मनु फिर भी श्रद्धा से अलग रह कर स्वतंत्र मार्ग निकालना चाहते हैं। यह असम्भव है। श्रद्धा ही उन्हें उँगली पकड़ कर आगे बढ़ाती है। मन भावलोक, ज्ञानलोक और कर्मलोक (सत, रज, तम) के त्रैत (त्रिपुरी) में होकर आनन्द की प्रकृत-भूमि पर पहुँचता है। यही लक्ष्य है। ज्ञानभूमि, भावभूमि और कर्मभूमि में संघर्ष ही आधुनिक मानव की विडम्बना है। श्रद्धा ही इस संघर्ष को दूर कर सकती है। श्रद्धा की मुस्कान से त्रिपुर (त्रैत) का अंत होता है। तब श्रद्धायुत मन (मनु) अपूर्व तन्मयता (दिव्य अनाहत) का अनुभव करता है। जहाँ तक संसार की बात है, इड़ा और श्रद्धा के योग से उसे चलाना होगा। काव्य के अंत में कामायनी के पुत्र (मानव) और पुत्रवधू (इड़ा) का अभिषेक इसी का प्रतीक है। परन्तु अध्यात्म जगत में श्रद्धा (भाव), ज्ञान (बुद्धि) और कर्म के आगे दिव्यानन्द (शिव तांडव) की तन्मयता ही ध्येय है।

'प्रसाद' के नाटकों की पृष्ठभूमि

'प्रसाद' के नाटक मूलतः आदर्शवादी स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) नाटक हैं। उनकी अपनी अलग परम्परा है। इस प्रकार के नाटकों में कथानक बहुत ही जटिल और मिश्र होते हैं। मुख्य कथावस्तु अनेक गौण कथानकों या उपकथाओं में इस तरह उलझी होती है कि उसको अलग करना कठिन हो जाता है। चरित्र स्वच्छन्द, आदर्शवादी और कवि-दार्शनिक के समान होते हैं। नाटक के स्वच्छन्द और कवित्वपूर्ण वातावरण में ऐसे ही पात्रों की योजना स्वाभाविक लगती है। इन नाटकों की भाषा-शैली बहुत ही कवित्वपूर्ण, अलंकृत एवं गद्य-गीतों के समान होती है। कवित्वपूर्ण वातावरण उपस्थित करने के लिये रहस्यपूर्ण और कलापूर्ण गीतों की योजना भी चलती है। चरित्र-चित्रण, भाव, विचार, संगीत सभी कवित्वपूर्ण होते हैं। जहाँ तक कवित्व का सम्बन्ध है, ये नाटक नाट्य-साहित्य की विभूति हैं। इनका अपना सौन्दर्य है। परन्तु रंगमंच की दृष्टि से इनमें अनेक दोष हैं और ये अभिनय के अयोग्य, जटिल, दुरूह और जनरुचि के विरुद्ध हैं। पाठ्य नाटकों के रूप में ही ये विशेष लोक-प्रिय रहे हैं।

प्रसाद का नाटक-रचनाकाल १६१०-११ से आरम्भ होता है। उस समय वह केवल २०-२१ वर्ष के तरुण थे। इस वर्ष उन्होंने 'सज्जन' नाम का एकांकी रूपक लिखा। १६१० ई० से १६१४ ई० तक उन्होंने

'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय' और 'प्रायश्चित' चार एकांकी रूपक लिख लिये थे। ये उनके प्रारम्भिक प्रयोग थे। इनमें 'करुणालय' गीति-नाट्य है। शेष केवल इसलिये महत्त्वपूर्ण हैं कि उनमें हमें प्राचीन नाट्यशास्त्र के कई अंगों का प्रयोग मिलता है। 'राज्यश्री' (१६१५) और 'विशाख' (१६२१) में भी वह पूर्व-पश्चिम के संघर्ष में पड़े दिखलाई पड़ते हैं। इन दोनों नाटकों के अगले संस्करणों में उन्होंने बहुत कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन किया है जिससे उनके बदलते दृष्टिकोण का पता चलता है।

काशी भारतेन्दु हरिश्चन्द की नगरी थी। भारतेन्दु के साहित्य में नाटक विशेष रूप से लोकप्रिय हुए थे। उन्होंने मौलिक और अनूदित नाटकों द्वारा हिंदी में नाटकों को जन्म दिया। उनके मौलिक नाटक अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। 'नीलदेवी' में कथानक का सौन्दर्य है, तो 'भारत-जननी' में संगीत है, 'चंद्रावली' में रस का अगाध प्रवाह है। प्रसाद ने उसे 'उज्जवल नीलमणि' की प्रेम-रहस्य की परम्परा से सम्बन्धित किया है। 'सत्य हरिश्चन्द' में चरित्रों का सुन्दर चित्रण है और 'अंधेर नगरी' में सुन्दर हास्य है। परन्तु किसी एक नाटक में ये सब गुण नहीं मिल सकते। प्रसाद भारतेन्दु की नाट्यकला और यथार्थवाद की परम्परा 'प्रेमयोगिनी' से जोड़ी जा सकती है।

हरिश्चन्द के बाद कोई महत्त्वपूर्ण नाटककार हमें नहीं मिलता। १६१२ ई० तक कोई भी सुन्दर मौलिक रचना उपस्थित नहीं होती। इसके बाद हमें कुछ सुन्दर नाटक मिलते हैं। बदरीनाथ भट्ट का 'कुरुवनदहन' (वेणी-संहार का रूपांतर, १६१२), महाभारत (माधवशुक्ल, १६१५), कृष्णार्जुनयुद्ध नाटक (माखनलाल चतुर्वेदी, १६२२) और दुर्गावती (बदरीनाथ भट्ट, १६२६) ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रसाद के साहित्य पर इन परवर्ती नाटकों का प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु इन नाटकों में

कवित्व, रसात्मकता और भाषा-शैली की साहित्यिकता की योजना के कारण प्रसाद के नाटक एक प्रकार इन्हीं की परम्परा से सम्बंधित हो जाते हैं। इन नाटकों में संस्कृत और अंग्रेज़ी नाट्यकला के समन्वय का उद्योग किया गया है।

१६०८-०६ ई० के लगभग भारतेन्दु बाबू के भतीजे श्रीकृष्णचन्द और श्रीब्रजचन्द ने काशी में "श्री भारतेन्दु मंडली" की स्थापना की। यहाँ साहित्यिक नाटकों का अभिनय हुआ करता था। प्रसाद का भावुक तरुण-हृदय इन अभिनयों से प्रभावित हुआ होगा। उन दिनों पारसी नाटकों का बोलबाला था और काशी का यह रंगमंच इन पारसी नाटकों का विरोध ही सूचित करता है।

इसी समय के लगभग बंगाली और अँग्रेज़ी नाटकों के अनुवाद प्रकाशित हुए। शेक्सपिअर, द्विजेन्द्रलाल राय और गिरीशचन्द्र घोष अनुवादकों को विशेष रूप से प्रिय रहे हैं। हिंदी नाटककारों के सामने इन नाटकों ने नाट्यकला और कल्पना का नया संसार उपस्थित किया। गिरीश बाबू के नाटकों में यथार्थवादी नाटकों की कोई भी परम्परा बहुत देर तक विकसित नहीं हुई। राय बाबू के नाटक विशेष रूप से प्रिय हुए। १६१६ ई० से १६२०-२१ तक इनके सभी नाटक अनूदित हो चुके थे। इनमें ३ नाटक पौराणिक हैं, १ प्रहसन, ६ ऐतिहासिक। ऐतिहासिक नाटकों में पाँच का सम्बन्ध मुस्लिम काल (मध्ययुग) से है। केवल एक 'चंद्रगुप्त' (१६०६) प्राचीन भारत से सम्बन्धित है। प्रसाद की नाट्यकला पर राय बाबू की नाट्यकला का व्यापक प्रभाव दिखलाई देता है। उनके 'चन्द्रगुप्त' नाटक से तो प्रसाद ने अनेक प्रकार की सामग्री ग्रहण की है। प्रसाद का दृष्टिकोण मुख्यतः सांस्कृतिक था, रायबाबू का नाटकीय, इससे प्रसाद और रायबाबू के 'चन्द्रगुप्त' नाटकों में बड़ा अन्तर है परन्तु समानता भी कम नहीं है। रायबाबू के नाटक मुख्यतः शेक्सपिअर की कला पर

आश्रित हैं । उनमें पूर्वी नाट्य-सिद्धान्तों के अनेक उपकरण मिलते हैं, परन्तु वे संस्कृत नाटकों और नाट्य-शास्त्र से भी पूर्णतयः परिचित हैं, अतः उनके नाटक पूर्व और पश्चिम के नाट्यशास्त्रों का समन्वय उपस्थित करते हैं । जैसा हमने बताया है, इस समन्वय की एक परम्परा पहले से चली आ रही थी ।

शेक्सपिअर के अनुवाद १६ वीं शताब्दी में ही आरम्भ हो चुके थे और पारसी कम्पनियाँ शेक्सपिअर की रचनाओं को अनेक रूप में उपस्थित कर चुकी थीं । पारसी रंगमंच ऐलिज़ाबेथ-कालीन नाटकों का ही रंगमंच था । शेक्सपिअर के दुखांत नाटकों (Tragedies) की कोई परम्परा संस्कृत नाटकों में नहीं मिलती । परन्तु उनके रोमांचक नाटक (Tragi-Comedies) आदर्शों और सिद्धांतों में संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अत्यन्त समीप थे । दोनों का वातावरण एक था, आदर्श एक थे, काव्यात्मक शैली, गीत और उदात्त चरित्रों की योजना भी समान थी । अतः भारतीय साहित्यिकों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था । शेक्सपिअर के ऐतिहासिक (Historics) भी प्रसाद के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है । 'अजातशत्रु' पर 'रिचर्ड द्वितीय' (Richard II) और 'किंग लियर' का प्रभाव पड़ा जान पड़ता है । परन्तु मूलतः वे उनकी रोमांचक नाट्यकला से ही प्रभावित हैं । यह प्रभाव मौलिक नाटकों के अध्ययन द्वारा आया या अनुवादों द्वारा या रायबाबू के माध्यम से, यह कहना कठिन है ।

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों के अध्ययन के समय हमें राखालदास बनर्जी के ऐतिहासिक उपन्यासों को भी सामने रखना पड़ता है । वे प्रसाद के समसामयिक थे और काशी विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के अध्यक्ष । 'करुणा' (१६२०) और 'शशांक' (१६२१) के रूप में उन्होंने दो सुन्दर ऐतिहासिक उपन्यास प्रस्तुत किये थे । प्रसाद से उनकी व्यक्तिगत

मित्रता थी। 'शशांक' की सामग्री का उपयोग प्रसाद ने 'राज्यश्री' के परिवर्द्धित संस्करण में किया और 'करुणा' का स्कन्दगुप्त (१६२८) में।

प्रसाद के जीवन.काल में ऐतिहासिक खोजों की चर्चा बड़ी तीव्रता से हो रही थी। राष्ट्रीयता की भावना के विकास ने पूर्वजों की ओर इंगित किया। गांधीजी के अहिंसात्मक संग्राम ने भगवान बुद्ध के करुणा और विश्व-मैत्री के सन्देश की ओर। राय कृष्णदास प्रसाद के अभिन्न मित्र थे और उन्होंने बड़ी तत्परता से अनेक प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री इकट्ठी की थी। यह सामग्री आज भारतीय कला-भवन, काशी, में संग्रहीत है। स्वयं प्रसाद की प्रवृत्ति भी ऐतिहासिक खोजों की ओर थी। रायकृष्णदास ने उनके ऐतिहासिक खोजों संबंधी परिश्रम का उल्लेख किया है और उनके नाटकों की भूमिकाएँ इसका प्रमाण हैं।

इस प्रकार हम प्रसाद के नाटकों की पृष्ठभूमि को इस तरह रख सकते है :—

(१) काशी का रंगमंच (२) हिन्दी के साहित्यिक नाटकों की परम्परा (३) संस्कृत नाटक और नाट्यशास्त्र (४) रायबाबू के नाटक (५) राखालबाबू के ऐतिहासिक उपन्यास (६) शेक्सपियर के रोमांचक और ऐतिहासिक नाटक (७) स्वयं नाटककार का व्यक्तित्व और उसकी मनोवृत्ति। प्रसाद ने अपने प्रारम्भिक नाटकों को संस्कृत नाट्य-कला से आरम्भ किया। परन्तु अजातशत्रु (१६२१) तक आते-आते न नांदी का पता लगता है, न भरत-वाक्य का। कुछ आलोचकों ने सभी पूर्वी-परवर्ती नाटकों को संस्कृत नाट्यशास्त्र की तुला पर तौला है और उनमें पंचसंधियों, संध्यांगों और संध्यतंरों की खोज की है, परन्तु ऐसी खोज व्यर्थ है। प्रसाद ने कथोपकथन इत्यादि में प्राचीनों-द्वारा योजित तत्त्वों का समावेश किया है और अपना दृष्टिकोण भी सुखांत रखा है, परन्तु इससे अधिक इन परवर्ती नाटकों में वे संस्कृत के ऋणी नहीं हैं।

प्रसाद के प्रारम्भिक नाटक अवश्य ही संस्कृत नाट्यशास्त्र के प्रभाव में लिखे गये, परन्तु जान पड़ता है, 'राज्यश्री' (१६१५) की रचना के बाद प्रसाद ने राय की कला का अध्ययन किया और अपने नाटकों को नई दिशा दी। राय के नाटकों में नाटक-तत्त्व की प्रधानता थी, प्रसाद ने उनसे बहुत कुछ सीखा। स्वगत-भाषण, कथोपकथन की नाटकीयता, अंतर्द्वन्द्व, गीत और पद्यमय वार्तालाप की योजना राय के नाटकों के महत्त्वपूर्ण अंग थे, परन्तु राय के नाटकों में भावुकता और कवित्वपूर्ण सम्वाद का भी प्राधान्य था। प्रसाद ने इन्हें ग्रहण किया। परन्तु प्रसाद राय के विपरीत सांस्कृतिक सन्देश देना चाहते थे। वह मुख्यतः इतिहास-प्रेमी, खोजी और अतीत-जीवी थे। अतः उनकी दृष्टि राय से बहुत दूर प्राचीन भारत की ओर गई। प्राचीन इतिहास को पुनर्जीवित और स्पंदित करने में उनके इतिहास-ज्ञान ने उनकी नाटकीय कला को विकसित नहीं होने दिया। वे ऐतिहासिक सूत्रों और बहुसंख्यक नामों के जंगल में पथ भूल गये। उनके नाटक में 'इतिहास' अधिक हो गया, 'नाटक' अप्रधान रह गया।

परन्तु फिर भी 'इतिहास-रस' उनके नाटकों में अपेक्षाकृत अधिक ही है। प्राचीन समय से संबंधित पारिभाषिक शब्दों, आलंकारिक और काव्यात्मक भाषा और गीत-तत्त्व के द्वारा प्रसाद 'इतिहास-रस' की प्रतिष्ठा में सफल होते हैं। उनके पात्रों में व्यक्ति-वैशिष्ट्य अधिक नहीं, परन्तु वे अत्यंत सरल हैं, उनका संसार ही भिन्न हैं; उनमें अंतर्द्वन्द्व अधिक नहीं है परन्तु वे पूर्णतः मानव हैं। इतिहास के मान्य पुरुषों को प्रसाद ने नई मांसलता देकर उपस्थित किया है। इतिहास में जहाँ केवल नामोल्लेख मात्र था, वहाँ अच्छी या बुरी अत्यन्त पुष्ट मूर्ति उपस्थित होती है। पात्र-विशेष के संबंध में मतभेद हो (जैसे बिंबसार के दार्शनिक रूप के संबंध में) परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास के अनेक पात्रों में वह सजीवता भर सके हैं। राय अपने नाटकों में यह चमत्कार उत्पन्न नहीं कर सके।

'प्रसाद' की कहानियाँ

प्रसाद-साहित्य में कहानियों का महत्त्व कुछ कम नहीं है। जैसे नाटक और कविता में प्रसाद ने नई-नई दिशाओं का प्रवर्तन किया, वैसे कहानी और उपन्यास के क्षेत्रों में भी उन्होंने हमारे साहित्य को नई दिशायें दीं। कहानी के क्षेत्र में वह उपन्यास से कहीं पहले आ गये थे। वस्तुतः कविता, नाटक और कहानी के तीन भिन्न क्षेत्रों में उन्होंने एक ही साथ पदार्पण किया और तीनों क्षेत्रों में हिन्दी को बहुत कुछ दिया। उनकी कुछ प्रारम्भिक कहानियाँ—या कहानी से मिलती-जुलती चीज़ें—'चित्राधार' (१९१८) में संग्रहीत हैं। परन्तु जिन्हें हम कहानी के सिवा और कुछ नहीं कह सकते, वैसी रचनायें पाँच संग्रहों के रूप में हमारे सामने हैं। ये संग्रह हैं 'छाया' (१९१२, परिवर्द्धित संस्करण, १९१९) 'प्रतिध्वनि' (१९२६), आकाशदीप (१९२९), आँधी (१९३२) और इन्द्रजाल (१९३६)। इन संग्रहों से हम प्रसाद की कहानी-क्षेत्र को १९०९—१० से लेकर मृत्यु-पर्यन्त (१९३६) तक की गति-विधि से परिचित हो जाते हैं। उनकी पहली कहानी 'ग्राम' है जो १९२० में प्रकाशित हुई और उस समय से लगभग २५ वर्षों तक उन्होंने साहित्य के अनेक क्षेत्रों में काम करते हुए भी हिंदी को बहुत कुछ दिया। उनकी कहानियों की संख्या अधिक नहीं है। सब मिलाकर ७० कहानियाँ होंगी। परन्तु कहानी-कला की दृष्टि से वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस युग में प्रेमचंद, सुदर्शन, कौशिक और प्रसाद

हिंदी के सब से बड़े कलाकार थे और इन समसामयिकों में प्रसाद का अपना व्यक्तित्व था। उन्होंने कहानी की एक विशेष दिशा को पुष्ट किया। प्रेमचन्द, सुदर्शन और कौशिक की कहानी यथार्थवादी कहानी की परम्परा को आगे बढ़ाती है, यद्यपि उनका यथार्थवाद आदर्शवाद से पुष्ट होता चलता है, परन्तु प्रसाद की कहानी उनके अन्य साहित्य की भाँति रोमांस या स्वच्छन्दतावाद की धारा को अग्रसर करती है। दृष्टिकोण, कला, भाषा-शैली और अभिव्यंजना सभी की दृष्टि से प्रसाद का कहानी-साहित्य अन्य समसामयिकों के साहित्य से भिन्न है। उसके सम्यक् अध्ययन के बिना प्रसाद के साहित्य और व्यक्तित्व का एक विशेष अंग ही अधूरा रह जाता है।

इन ७० कहानियों का वर्गीकरण इस प्रकार है :

(क) ऐतिहासिक कहानिय—इनकी संख्या १८ है। प्रसाद के चारों संग्रहों में ऐतिहासिक कहानियाँ मिल जाती हैं। इतिहास की ओर उनका आकर्षण उनकी मूल प्रवृत्ति है और उनकी सर्वश्रेष्ट कहानियाँ इसी श्रेणी में मिलेगीं। 'छाया' (१९१२-१९) और 'प्रतिध्वनि' (१९२६) की आठ कहानियों में कला, कल्पना और अतीत-चित्रमयी भाषा-शैली का कोई पुष्ट रूप हमारे सामने उपस्थित नहीं होता। परन्तु 'आकाशदीप' (१९२९), 'आँधी' (१९३१) और 'इन्द्रजाल' (१९३६) की ऐतिहासिक कहानियाँ प्रसाद की कला को सबसे प्रौढ़ रूप में उपस्थित करती हैं। 'आकाशदीप', 'ममता', 'स्वर्ग के खंडहर में', 'व्रतभंग', 'दासी', 'पुरस्कार', 'सालवती', 'गुंडा', 'देवरथ', और 'नूरी' प्रसाद की कहानियों की शीर्षमणि हैं। इनमें 'व्रतभंग' और 'दासी' को छोड़ दें, तो शेष प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कहानियों के अन्तर्गत आ जायेंगी।

अपनी ऐतिहासिक कहानियों में प्रसाद ने भारतवर्ष के इतिहास के बौद्ध काल से लेकर ग़दर तक के लम्बे काल को अपनी कला का विषय बनाया है। बौद्ध काल से सम्बंधित कहानियाँ हैं 'अशोक', 'खंडहर की 'लिपि'

'आकाशदीप', 'व्रतभंग', और 'पुरस्कार', । 'अशोक' में ऐतिहासिक वस्तु ही अधिक है।'खंडहर की लिपि' सांकेतिक कहानी है। परन्तु 'आकाशदीप','व्रतभंग' और 'पुरस्कार' भी मूलतः प्रेम और रोमांस की कहानियाँ हैं । उनकी पृष्ठ-भूमि मात्र ही ऐतिहासिक है। वास्तव में उन्हें प्रसाद की प्रेम-रोमांस की कहानियों से अलग नहीं किया जा सकता। 'सालवती' भी बौद्ध-युग की कहानी है, परन्तु उसमें ऐतिहासिकता अधिक है। केवल प्रेम-रोमांस से ऊपर उठ कर लेखक उस युग के सारे वैभव. सारे विलास और सारी सामर्थ्य की अभिव्यंजना करने में सफल हो सका है। 'सिकन्दर की शपथ' मौर्य युग की कहानी है। इसे हम बौद्ध युग के अन्तर्गत भी रख सकते हैं, परन्तु उसमें केवल कथा-मात्र है। कहानी-कला पर वह पूरी नहीं उतरती।

बौद्ध युग के बाद कहानियों के क्षेत्र में प्रसाद के लिए सबसे अधिक आकर्षण की वस्तु मुसलिम काल की कहानियाँ हैं—'चित्तौर-उद्धार', 'गुलाम', 'जहाँआरा', 'चक्रवर्ती का स्तम्भ', 'ममता', 'स्वर्ग के खंडहर में', 'देवरथ' और 'नूरी'। इनमें अन्तिम चार कहानियाँ प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कहानियों के अन्तर्गत आयेंगी। जान पड़ता है राजपूत-कथानकों की ओर प्रसाद का आकर्षण अधिक नहीं। केवल एक कहानी—'चित्तौर-उद्धार'—राजपूत कथा से सम्बन्धित है। 'जहाँआरा' और 'गुलाम' कहानी-कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। 'चक्रवर्ती का स्तम्भ' प्रतीकवादी कहानी है। शेष चार कहानियाँ ही प्रसाद की कीर्ति का प्रधान स्तम्भ हैं। 'ममता' में नारी की करुणमयी मातृमूर्ति का बड़ा सुन्दर चित्र है। शेष तीनों कहानियाँ प्रेम-कहानियाँ हैं। असफल प्रेम ही तीनों का विषय है, परन्तु इन तीनों में नारी की त्यागमयी मूर्ति की बड़ी सुन्दर ढंग से प्रतिष्ठा हो सकी है। 'स्वर्ग के खंडहर में' और 'देवरथ' का सम्बन्ध प्रारम्भिक मुस्लिम काल से है और 'नूरी' का अकबर से। इन कहानियों में भी ऐतिहासिक कहानी की उपेक्षा है। कल्पना, अध्ययन और कला के द्वारा इतिहास की चित्रमयी पृष्ठभूमि पर प्रेम की सुख-दुःख पूर्ण, अश्रु-हासमयी रेखायें-भर खींच दी गई हैं।

'शरणागत' और 'गुंडा' को हम ग़दर की कहानियाँ कह सकते हैं। 'शरणागत' में कोई महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं मिलता। परन्तु 'गुंडा' प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से है। उस समय की काशी का बड़ा सुन्दर चित्र इस कहानी में मिलेगा।

इन ऐतिहासिक कहानियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास के लिए प्रसाद ने ये कहानियाँ नहीं लिखीं। इन कहानियों में प्रेममयी नारियों और लालसापूर्ण साहसी युवकों की आशा-निराशा का ही चित्रण मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के द्वारा कथा की रोमांचकता बढ़ जाती है। परन्तु इन कहानियों में कला का बड़ा सुन्दर रूप हमें मिलता है और अभूतपूर्व मधुमयी भाषा इतिहास को जीवित करने में सर्वथा समर्थ है। प्रसाद की कलापूर्ण कहानियों में यही कहानियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं।

(ख) **यथार्थवादी कहानियाँ**—इनकी संख्या १३ है। 'प्रसाद' की पहली यथार्थवादी कहानी 'ग्राम' थी जो १९११ ई० में 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। 'छाया' (१९१२) और 'प्रतिध्वनि' (१९२६) में हमें केवल तीन कहानियाँ—'ग्राम', 'सहयोग' और 'गुदड़ी में लाल' मिलती हैं—परन्तु वे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। 'आकाशदीप' (१९२९) में भी 'रूप की छाया' नाम की एक यथार्थवादी कहानी है। काशी की विधवाओं के छलपूर्ण जीवन की बड़ी सुन्दर व्यंजना इस कहानी में मिलेगी, परन्तु कला के हाथों से वह सँवारी नहीं जा सकी है। 'आँधी' (१९३१) और 'इन्द्रजाल' (१९३६) में ही प्रसाद की अधिकांश सुन्दर यथार्थवादी कहानियाँ हमें मिलती हैं। 'घीसू', 'बेड़ी', 'इन्द्रजाल', 'सलीम', 'परिवर्तन', 'संदेह', 'भीख में' और 'चित्रवाले पत्थर' में प्रेम का कोई न कोई रूप ही हमें दिखलाई पड़ता है। परन्तु क़लम नई है। जहाँ 'इन्द्रजाल' में एक ओर कंजर-जीवन के बड़े सुन्दर यथार्थवादी चित्र हैं, वहाँ 'भीख में' जैसी कहानियों

में आधुनिक जीवन अपनी सारी नग्नता को लेकर उपस्थित होता है।' 'घीसू', 'बेड़ी', और 'छोटा जादूगर' तीन ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें लेखक ने बालकों के दुःखमय भविष्य की ओर संकेत किया है। इन कहानियों का बीज-मंत्र करुणा है।

(ग) **भावात्मक कहानियाँ**—इनकी संख्या ६ है। अधिकांश कहानियाँ 'प्रतिध्वनि' (१६२६) में मिलती हैं—'कलावती की शिक्षा', 'प्रतिमा', 'दुखिया', 'करुणा की विजय', 'पाप की पराजय', 'अघोरी का मोह'। तीन कहानियाँ 'आकाशदीप' (१६२६) में मिलेंगी—'भिखारिन', 'प्रतिध्वनि' और 'बनजारा'। इन कहानियों में कहानी-तत्त्व की कमी है, परन्तु भावना का विकास विशेष है और यही भावना या भावुकता कहानी का सबसे बड़ा आकर्षण है। 'बनजारा' प्रेम-कहानी है, परन्तु अन्य कहानियों में जीवन के अलग-अलग चित्र मिलते हैं। इन कहानियों में गद्य-गीत की कला का भी बड़ा सुन्दर समावेश है। परन्तु भावना की मात्रा अधिक होने के कारण कहीं-कहीं अस्पष्टता भी आ गई है। जो हो, यह निश्चित है कि इन कहानियों में प्रसाद की एक विशेष कला के दर्शन होते हैं।

(घ) **प्रेममूलक कहानियाँ**—यों तो अन्य श्रेणी की कहानियों में भी प्रेम-कहानियाँ आ जाती हैं, ऐतिहासिक कहानियों में अधिकांश प्रेम को लेकर ही चलती हैं, परन्तु कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं, जो स्पष्ट रूप से प्रेम को अपना विषय बनाती हैं। 'छाया' (१६१२, १६) 'आकाशदीप' (१६२६) और 'आँधी' में इस प्रकार की कहानियाँ संग्रहीत हैं। ये हैं—'तानसेन', 'चंदा', 'रसिया' 'बालम', 'मदन-मृणालिनी', 'सुनहला साँप', 'देवदासी', 'चूड़ीवाली', 'अपराधी', 'बिसाती' और 'ग्रामगीत'। इनमें 'छाया' की कहानियाँ अधिक प्रौढ़ नहीं हैं, परन्तु 'देवदासी, 'बिसाती' और 'ग्रामगीत' कहानियों में प्रेमाख्यानक कहानियों की पराकाष्ठा मिलेगी। ये

कहानियाँ संसार की सबसे सुन्दर प्रेम-रोमांस की कहानियों की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। प्रेम की अनेक भंगिमाएँ हमें प्रसाद के साहित्य में मिलेंगी। जहाँ विषय, कला और भाषा का समन्वय सम्भव हो गया है, वहाँ प्रसाद की प्रौढ़ता को पहुँचना सम्भव नहीं है, परन्तु सब जगह ऐसा समन्वय नहीं मिलेगा। यह समन्वय मुख्यतः प्रसाद के जीवन के अंतिम दस वर्षों में मिलेगा।

(ङ) **रहस्यवादी कहानियाँ**—प्रसाद की अनेक कहानियाँ भावुकता और प्रतीकात्मकता के अतिरेक के कारण अस्पष्ट हो गई हैं। परन्तु जो शुद्ध रहस्यवादी कहानियों की श्रेणी में आती हैं ऐसी कहानियाँ छः हैं। 'प्रतिध्वनि' (१९२६) की 'उस पार का योगी' और 'प्रसाद' और 'आकाशदीप' (१९२९) की, 'हिमालय का पथिक', 'समुद्र-संतरण', 'प्रणय-चिन्ह' और 'रमला' कहानियाँ इसी श्रेणी की कहानियाँ है। 'उस पार का योगी' में योगी मृत्यु का प्रतीक है। 'प्रसाद' रहस्यात्मक गद्य-काव्य मात्र है। अंतिम चार कहानियाँ प्रेम-कहानियाँ हैं, परन्तु उस प्रेम में आध्यात्मिक और रहस्यात्मक इंगित भी मौजूद है। मृत्यु के प्रति आकर्षण रहस्यवाद का एक विशेष अंग है। 'हिमालय का पथिक' कहानी में यह इंगित स्पष्ट है। पथिक ने दूर बर्फ़ का बुलावा सुन लिया है और वह किन्नरी के प्रेमपाश में बँधकर भी रहना नहीं चाहता। यह रहस्य कहानी को साधारण प्रेम-रोमांस की कहानी से ऊपर उठा देता है :

एक दिन पथिक ने कहा—"कल मैं आऊँगा।"

किन्नरी ने पूछा—"किधर।"

पथिक ने हिमगिरि की ऊँची चोटी दिखलाते हुए कहा—"उधर, जहाँ कोई न गया हो।" प्राणों के प्रति यह निर्मोह कहानी को आध्यात्मिकता प्रदान कर देता है। 'समुद्र-संतरण' कहानी में यह दूर की पुकार हिम की चोटियों से नहीं आती, समुद्र की लहरों से आती है। यहाँ धीवर-

बाला का प्रेमी राजकुमार आत्मा की वियोगिनी अवस्था का प्रतीक बन जाता है। कहानी की वर्णन-शैली और भावुकता उसे साधारण तल से ऊँचा उठाने में समर्थ होती है।

'प्रणय-चिह्न' की रहस्य-कल्पना कुछ दुरूह है। कुछ प्रेम-कहानी सी जान पड़ती है। नाम-धाम इस लोक के ही दिये गये हैं, परन्तु ढंग कुछ सूफ़ी कविता जैसा है। कहानी का प्रारम्भ ही लेखक की रहस्यमय-प्रवृत्ति की सूचना देता है।

(च) प्रतीकात्मक कहानियाँ—इस प्रकार की कहानियों की संख्या छः हैं और ये भी मुख्यतः 'प्रतिध्वनि' (१६२६) और 'आकाश-दीप' (१६२६) में मिलती हैं। इन कहानियों के नाम हैं 'प्रलय', पत्थर की पुकार', 'गूदड़साईं', 'कला', 'वैरागी' और 'ज्योतिष्मती'। इनमें कथाकार अपनी बात को स्पष्टतः प्रतीक के आधार पर कहता है। 'प्रलय' कहानी में 'कामायनी' (१६३६) के बीज मिल जाते हैं। शैवागमों के शिव-शक्ति के प्रलयांतर्गत समागम को ही प्रतीक-रूप में उपस्थित किया गया है। यह प्रसाद की पहली कलात्मक कहानी है। 'पत्थर की पुकार' में साहित्य और कला की कुछ मूल समस्यायें उठाई गई हैं।

'गूदड़ साईं' का अद्वैत भाव रामभक्त का रूपक है जो बालकों में परमात्मा के दर्शन करता है। 'कला' में कला के दो पक्षों—रूप और रस—की विवेचना है। रसमयी भावुकता का नाम ही कला है। उसी में उच्चतम संगीत प्रकट होता है। कला के बाहरी उपकरण उसके रूप को सजाते हैं, रस कला की आत्मा का पोषण करता है। 'वैरागी' कहानो की युवती सच्चे त्याग की प्रतीक है और 'ज्योतिष्मती' में सच्चे प्रेमभाव की व्याख्या है। प्रेम हमें नई दृष्टि प्रदान करता है परन्तु यह दृष्टि निश्छल प्रेम से ही आ सकती है। वासना के स्पर्श से ही प्रेम की ज्योतिष्मती लता मुरझा जाती है। 'प्रलय' और 'कला' को छोड़ कर ये प्रतीकात्मक कहानियाँ

अधिक उत्कृष्ट नहीं हैं। वास्तव में इस प्रकार की कहानियों का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। संसार के साहित्य में ही इस तरह की कहानियाँ बहुत थोड़ी हैं।

(छ) **मनोवैज्ञानिक या चरित्र-प्रधान कहानियाँ**—प्रसाद की कहानियों में मनोवैज्ञानिक या चरित्र-प्रधान कहानियाँ अधिक नहीं हैं। 'आँधी' और 'मधुआ' को ही हम इस श्रेणी में रख सकते हैं। प्रसाद की अधिकांश कहानियाँ काव्यमय और भाव-प्रधान या घटना-प्रधान हैं। चरित्र-प्रधान कहानियों की ओर उनका ध्यान अधिक नहीं गया। हिंदी साहित्य में सबसे अधिक चरित्र-प्रधान कहानियाँ प्रेमचन्द ने ही लिखी हैं। आधुनिक समीक्षक चरित्र-प्रधान कहानी या मनोवैज्ञानिक कहानी को ही सर्वश्रेष्ठ कहानी मानते हैं, परन्तु मनोविज्ञान प्रसाद का शक्तिशाली अंग नहीं है।

(ज) **आदर्शवादी कहानियाँ**—इनकी संख्या भी अधिक नहीं है। 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' में इस कोटि की पाँच कहानियाँ मिलती हैं। ये हैं 'विजया', 'व्रतभंग', 'अमिट स्मृति', 'नीरा' और 'अनबोला'। इन कहानियों में जीवन की किसी न किसी आदर्श स्थिति की कल्पना मिलेगी, परन्तु कला की दृष्टि से ये आदर्शवादी कहानियों के भीतर ले ली गई हैं। हम चाहें तो एक श्रेणी के रूप में इन कहानियों का अलग से अध्ययन भी कर सकते हैं।

(झ) **समसामयिक कहानियाँ**—प्रसाद प्रेमचन्द की भाँति समसामयिक जीवन के कलाकार नहीं हैं। केवल विरामचिन्ह' या 'सलीम' ही ऐसी दो कहानियाँ हैं जिनमें सामयिक जीवन का कोई चित्र मिलता है। इनमें 'सलीम' में तो प्रेम-रोमांस ही अधिक है। 'विरामचिन्ह' महात्मा गांधी के १६३२ ई० के हरिजन-आन्दोलन से प्रभावित है। इस आन्दोलन ने प्रेमचन्द, शरतचन्द और रवीन्द्रनाथ ठाकुर तीनों महान् कलाकारों को प्रभावित किया, परन्तु कविता के क्षेत्र में रविठाकुर और कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द ने ही इस आन्दोलन से सम्बन्धित सामग्री हमें दी। प्रसाद की

एक ही कहानी—विरामचिन्ह—मन्दिर-प्रवेश आन्दोलन का चित्र हमारे सामने उपस्थित करती है।

(ञ) प्रागैतिहासिक कहानियाँ—प्रागैतिहासिक जीवन की केवल एक कहानी 'चित्रमन्दिर' नाम से हमें मिलती है।

जयशंकर प्रसाद की ७१ कहानियों का यह वर्गीकरण है। यह स्पष्ट है कि प्रसाद की अधिकांश कहानियाँ प्रेम-रोमांस, इतिहास, रहस्यवाद, प्रतीक-वाद और स्वच्छन्दतावादी आदर्शवाद से सम्बन्धित है। ऐसी कहानियों में भाषा की चित्रमयता और कल्पना के काव्यमय उत्कर्ष के लिए काफ़ी स्थान रहता है। प्रसाद मूलतः कवि और भावुक कलाकार हैं। मनोविज्ञान और चारित्रिक उथल-पुथल की उनकी पकड़ उतनी अच्छी नहीं है। इसी से वे जीवन की भावुक परिस्थितियों के सफल चित्रकार हैं, द्वन्द्वात्मक स्थिति के सामने उनकी प्रतिभा मौन हो जाती है। यही कारण है कि यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक कहानियों की संख्या अधिक नहीं है और ये कहानियाँ भी मुख्यतः स्वच्छन्दतावादी भंगिमाओं पर आश्रित हैं। कंजरों, अफ़रीदियों, पठानों, धीवरों, गूजरों और देव-मन्दिरों से सम्बन्धित कहानियों को हम यथार्थवादी कहानियाँ नहीं कह सकते। ये विशेष जीवन के चित्र चाहे जितने भी सूक्ष्म बन पड़े हों, वे सामान्य जीवन के चित्रों का स्थान नहीं ले सकते। सामान्य जीवन से भाग कर ही कलाकार जीवन के उपेक्षित, सुदूर और नगण्य क्षेत्रों में प्रवेश करता है।

ऊपर के विश्लेषण से जयशंकर 'प्रसाद' की कहानी-कला की मूल भित्ति प्रकाश में आ सकेगी, इसमें संदेह नहीं। कहानी के क्षेत्र में प्रसाद छोटे थे या बड़े थे, यह हमें कहना नहीं है। हमें उनकी कला के आदि स्रोत को खोज निकालना है और यह निश्चित करना है कि हिंदी कथा-साहित्य में उन्होंने किस प्रकार का और कितना योग दिया।

'प्रसाद' के नाटकों की अभिनेयता

'प्रसाद' के नाटक अभिनेय हैं या अभिनेय नहीं हैं, इस बात को लेकर तर्क-वितर्क बराबर चला करते हैं। नाटकों के लिए यह कोई बड़े श्रेय की बात नहीं कि उनका अभिनय न हो सके। इसी से कदाचित् कोई नाटककार या उसका प्रशंसक यह नहीं कहेगा कि उसके प्रिय नाटक अभिनेय नहीं हैं। प्रसाद के समर्थक कहते हैं कि उनके नाटक अभिनीत हैं, परन्तु वे गोष्ठी-नाटक हैं। विशेष समाज के सामने ही वे सफल हो सकते हैं। वे सर्वसाधारणों के लिए नहीं हैं। प्रसाद एक दूसरा ही दृष्टिकोण रखते हैं। वह कहते हैं—तुम्हारे यहाँ रंगमंच है ही कहाँ! तुम्हारे यहाँ नाटक खेले कहाँ जाते हैं! पहले रंगमंच बनाओ। फिर मेरे नाटक खेलो। नाटक की सुविधा के लिए रंगमंच में परिवर्तन किया जाना चाहिये। यदि प्रयत्न करो, तो मेरे नाटक अभिनीत क्यों नहीं हो सकते। कीन (Kaeyne) ने शेक्सपियर की रचनाओं को अभिनीत बनाने के लिए कितना प्रयत्न किया है।

दोनों तर्कों में कुछ तथ्य अवश्य है, परन्तु वह बहुत बड़ा नहीं है। नाटककार को सामयिक रंगमंच को देखकर ही चलना पड़ता है। रंगमंच की अपनी आवश्यकताएँ होती हैं, अपनी आवश्यकताएँ रहेंगी। फिर रंगमंच के थोड़े से ज्ञान की भी—जो सरलता से प्राप्त हो सकता है—नाटककार उपेक्षा क्यों करे?

प्रसाद के नाटकों में अभिनेयता कहाँ तक है, यह देखने के लिए हमें पहले अभिनय के तत्त्वों पर विचार करना होगा। नाट्य के आधार हैं रंगमंच को आवश्यकताएँ और सुविधाएँ, प्रेक्षक, नाट्य (नाट्य वस्तु) और अभिनेता। प्रत्येक नाटककार को इन तत्त्वों को ध्यान में रखना होता है। जिन नाटककारों को इन तत्त्वों का ज्ञान नहीं है, उनके नाटक कल्पना, प्रतिभा और काव्यमयता के बल पर उत्कृष्ट तो अवश्य हो सकते हैं, परन्तु उन्हें रंगमंचीय बनाना पड़ेगा, उनमें अनेक प्रकार की कतर-ब्योंत करनी होगी। प्रसाद के नाटकों के सम्बन्ध में भी यही बात है। कतर-ब्योंत के साथ वे रंगमंच पर उपस्थित हो सकते हैं, परन्तु इसी रूप में उन्हें रंगमंच पर लाने में बड़ी कठिनाई होगी, इसमें सन्देह नहीं।

रंगमंच की कुछ अपनी आवश्यकताएँ हैं। रंगमंच का विस्तार परिमित है और उस पर केवल परिमित संख्या में ही दृश्यों का आयोजन हो सकता है। प्रत्येक दृश्य का एक पट होता है और उसके उतारने-गिराने की विशेष योजना होती है। जितने अधिक पट होंगे उतनी ही अधिक उलझनें होंगी। इसलिए चतुर नाटककार केवल कुछ ही पटों पर अधिक से अधिक दृश्यों की योजना करते हैं। एक ही दृश्य की दो या तीन अंकों में आगे-पीछे योजना हो जाती है और इस तरह कई पट बन जाते हैं। प्रसाद के नाटकों में इस तरह की कोई योजना नहीं है। इसीलिए साधारण रंगमंच पर बिना कतर-ब्योंत किये ये नाटक चल ही नहीं सकते। फिर कभी-कभी एक ही दृश्य को अनेक निर्देशों के साथ उपस्थित किया गया। 'अजातशत्रु' में 'प्रकोष्ठ' और 'उपवन' के अनेक दृश्य हैं। 'प्रकोष्ठ' चाहे बिम्बसार का हो, या श्यामा का, या मल्लिका का, दृश्य में बहुत परिवर्तन नहीं हो सकता। इसलिए बार-बार दो-तीन दृश्यों का ही उलट-फेर होगा और इसलिए प्रेक्षक ऊब जायेंगे। छोटे नाटकों में जहाँ दृश्यों की इस प्रकार की समरसता है वहाँ स्कंदगुप्त और चन्द्रगुप्त जैसे बड़े ऐतिहासिक नाटकों में दृश्यों की बहुसंख्यता और विभिन्नता नाटक को रंगमंच के अयोग्य बना

देती है। वस्तुतः प्रसाद कल्पना और योजना के सहारे नाटकीय दृश्य लिखने चले हैं और रंगमंच का कोई भी रूप उनके सामने नहीं है। इसीलिए रंगमंचीय कठिनाइयाँ हैं।

प्रेक्षकों की दृष्टि से इन नाटकों की कड़ी परीक्षा हो जाती है। काव्यात्मक और दार्शनिक स्थल, अस्पष्ट चरित्र-चित्रण और भाषा-शैली की तत्समता प्रेक्षकों को उलझन में डालने वाली चीजें हैं। सारे पात्र एक ही जैसी तत्सम शब्दावली प्रधान भाषा बोलते हैं। फिर यह कैसे सम्भव है कि नाट्य-सामग्री सब के लिए सुगम हो। यह तो ठीक है कि जैसे-जैसे जनता साक्षर होती जायगी, वैसे-वैसे ये नाटक उसकी समझ में आते जायँगे। फिर भी ये नाटक केवल नागरिक वर्ग के लिए ही सुबोध होंगे। अब भी साहित्यिक नाटक वर्ग-विशेष के लिए अभिनीत होते हैं। साहित्यिक नाटकों के संबंध में ऐसी परिस्थिति बराबर रहेगी। उनका रंगमंचीय रूप साहित्यिक रूप से थोड़ा भिन्न ही होगा।

नाट्यवस्तु के सम्बन्ध में भी कुछ कहना होगा। प्रसाद की नाटकीय वस्तु न पूर्णतया पूर्वी रसवाद या वस्तु-वैचित्र्य को लेकर चलती है, न पश्चिमी चारित्रिक वैशिष्ट्य को लेकर। वह एक प्रकार से दोनों का समन्वय करना चाहते हैं, परन्तु इस तरह का समन्वय कदाचित् आधुनिक प्रेक्षक चाहता नहीं। पूर्वी नाट्यवस्तु में रस-तृप्ति रहती है तो पश्चिमी नाटक में चरित्रों का घातप्रतिघात। परन्तु प्रसाद के नाटकों में दोनों कुछ इस प्रकार उपस्थित होते हैं कि दोनों में से एक की भी पूर्ण अभिव्यक्ति रंगमंच पर नहीं हो सकती। फलतः प्रसाद के नाटक उन्हें पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं कर सकते।

अभिनेताओं का भी प्रश्न आता है, परन्तु वह बहुत बड़ा प्रश्न नहीं। साहित्यिक नाटकों के योग्य सुसंस्कृत अभिनेता शीघ्र ही हमें मिल जायेंगे। वे कदाचित् प्रसाद के नाटकों में अधिक रस भी लेंगे। परन्तु अभी तो ऐसे अभिनेता दुर्लभ ही हैं। सच बात तो यह है कि अभी हिन्दी का अपना

रंगमंच ही विकसित नहीं हो सका है। हिन्दी का रंगमंच विकसित हो तो हमें अभिनेता भी मिल जायें, भाषा-शैली सम्बन्धी प्रेक्षकों की कठिनाइयों का भी कोई प्रश्न नहीं हो, परन्तु रंगमंच की सुविधा-असुविधा और वस्तु की नाटकीयता का विचार तो करना होगा। ये दो तत्त्व ऐसे हैं जिन्हें किसी भी प्रकार छोड़ना असम्भव है। प्रसाद हमारे क्लासिकल नाटककार रहेंगे, इसमें संदेह नहीं। उनके नाटकों को हम, जितना भी सम्भव हो सकेगा, उनके मूल रूप में ही उपस्थित करने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु इधर-उधर थोड़ा-बहुत परिवर्तन तो करना ही होगा। प्रसाद की नाट्यवस्तु की विशेषताएँ तो बनी ही रहेंगी। यदि नाटकों की कथावस्तु का संगठन अन्य प्रकार होगा तो उनका प्रसादत्व जाता रहेगा। यह प्रसादत्व ही प्रसाद के नाटकों का सब से बड़ा आकर्षण है और इसका रहना आवश्यक है। प्रसाद के नाटकों का सारा व्यक्तित्व इसी तत्त्व पर आश्रित है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि कुछ गीत हटाये जा सकते हैं, कुछ वाक्य इधर-उधर किये जा सकते हैं और इस प्रकार के परिवर्तन प्रसाद की नाट्य कला को और सुन्दर ढंग से उपस्थित करने में सहायक होंगे।

प्रसाद का जीवन एक महान् स्वप्नद्रष्टा, एक महान् कलाकार और एक महान् चिंतक का जीवन रहा है। शारीरिक क्रियाशीलता उसमें अधिक नहीं रही हो परन्तु बौद्धिक क्रियाशीलता उनमें विशेष रही है। उनके नाटकों में उनके पूरे व्यक्तित्व का प्रकाशन हुआ है। कलाकार, कवि और तत्त्वचिंतक तीनों उनके नाटकों में एक साथ उपस्थित होते हैं और यदि अभिनेता को रंगमंच पर इन नाटकों के व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना है तो उसे प्रसाद के इस व्यक्तित्व के त्रिधा-रूप को पूर्ण रूप से आत्मसात् करना पड़ेगा। ऐसा करना सरल नहीं है। इसीलिए प्रसाद के नाटक इतनी सरलता से अभिनीत भी नहीं हो सकेंगे। वे हमारी साहित्यिक चर्चा के ही विषय अधिक रहेंगे। जो हो, यह निश्चित है कि केवल रंगमंच पर उनके साथ पूर्ण रूप से न्याय नहीं किया जा सकेगा। यह नहीं कि उनमें

अभिनेयता के गुण हैं ही नहीं। कहीं-कहीं प्रसाद मनोवैज्ञानिक संघर्ष को बहुत तीव्रता दे सके हैं। इन गुणों के कारण प्रसाद के नाटकों के विशेष अंश नाटकीय दृष्टि से बहुत पूर्ण हैं। अभी तक हमने इन नाटकीय अंशों की रंगमंच पर अधिक परीक्षा नहीं की है, परन्तु यह आवश्यक है कि हमारी साहित्यिक गोष्ठियाँ इस प्रकार के नाटकों को अभिनीत करें। इन नाटकों में नाटकीय संघर्ष के भी महत्वपूर्ण स्थल मिल जायेंगे। शेक्सपियर के नाटकों के नाटकीय अंश न जाने कितनी बार इस प्रकार उपस्थित किये गये हैं। पूर्ण रूप से प्रसाद के नाटक रंगमंचीय नहीं सही, परन्तु उनमें उत्कृष्ट नाट्योपयोगी दृश्य भी कम नहीं हैं।

यह स्पष्ट है कि प्रसाद के नाटक उसी रूप में रंगमंच पर नहीं खेले जा सकते जिस रूप में वे उपस्थित हैं। उनमें बड़ी काट-छाँट करनी पड़ेगी, विशेषतयः बड़े ऐतिहासिक नाटकों में। नाटकीय दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' उनका सर्वश्रेष्ठ नाटक रहेगा। इसको एकांकी का रूप दिया जा सकता है। यदि हम प्रत्येक अंक को एक दृश्य बना लें तो यह तीन दृश्यों का एकांकी हो सकता है। 'विशाख' को भी सरलता से रंगमंच पर उपस्थित किया जा सकता है। 'राज्यश्री' में नाट्यकला विशेष नहीं है, वस्तु का विस्तार ही अधिक है, इसलिए वह नाटकीय रस की उपलब्धि नहीं करा सकता। शेष रह गये दो रूपक (allegories) या प्रतीकवादी नाटक —'कामना' 'और' 'एक घूँट'। ये स्पष्ट ही रंगमंच के योग्य नहीं हैं। बचे 'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त'। ये बड़े-बड़े नाटक हैं। अजातशत्रु में २८ दृश्य हैं, स्कंद में ४२ और चन्द्रगुप्त में ४६। खेलने में ये नाटक ४ से ६ घंटे तक ले लेंगे। अतः परिवर्तन किये बिना ये नाटक खेले नहीं जा सकते। इन्हें रंगमंचीय या नाटकीय बनाना पड़ेगा।

परन्तु तब भी ये 'गोष्ठी-नाटक' रहेंगे। विशेष जन ही इनका आनन्द उठा सकेंगे, सामान्य जन नहीं। यूरोप में प्राचीन यूनानी और ऐलिज़ाबेथ-

कालीन नाटककारों को रंगमंच पर उपस्थित किया जा रहा है। इसके लिए बड़े व्यय, बड़ा परिश्रम और बड़ी सूझ की आवश्यकता है। अभी समाचार-पत्रों में छपा है कि पं० जवाहरलाल यूनानी नाटककार यूरोपिडीस के नाटक मीडिया (Maedia) के थियेटर रंगमंच पर देखेंगे। स्पष्ट है कि 'मीडिया' साधारण जन-रुचि को तुष्ट नहीं कर सकेगा। उसका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व रहेगा। प्रसाद के नाटक इसी प्रकार के 'क्लासिक' (Classic) रहेंगे—विशिष्ट जनों के आदर और प्रेम की वस्तु। वे हमारे नाटककारों के सम्मुख आकाशदीप की तरह रहेंगे। परन्तु जो नाटककार रंगमंच की आवश्यकताओं से परिचित होगा, वह उनकी कमज़ोरियों से परिचित होगा और इन नाटकों से प्रेरणा लेता हुआ भी इनकी रंगमंचीय कमज़ोरियों से दूर रहेगा। इसमें संदेह नहीं कि प्रसाद के नाटकों का जन-संस्करण भी उपस्थित किया जा सकता है, परन्तु तब ये प्रसाद के नाटक नहीं रहेंगे। उनमें नाटकीय संघर्ष की तीव्रता रखनी होगी और नये तत्त्वों का समावेश करना होगा। यह कुछ अनुचित-सा है। उचित यही है कि हम 'गोष्ठी-नाटकों' के रूप में इनको नाटकीय (रंगमंचीय) बनायें और ये हमारे संस्कृत सभ्यों को आनन्द, उत्साह और प्रेरणा दें। अभी हमारे यहाँ रंगमंच है ही कहाँ! रंगमंच विकसित होगा—देश धन-सम्पत्ति-सम्पन्न होगा तो रंगमंच क्यों नहीं विकसित होगा? तब नाटककार रंगमंच के सम्पर्क में आयेंगे और जनता को आनन्द देने वाली, रंगमंच की सुविधा देख कर चलने वाली चीज़ें देंगे। प्रसाद के समय में हिंदी का कोई रंगमंच था ही नहीं—फिर उनसे रंगमंचीय नाटकों की आशा कहाँ तक की जा सकती है। वह अनेक क्षेत्रों के कृती हैं। रंगमंच न रहने पर भी उन्होंने हिन्दी को सुन्दर, कलापूर्ण भाषाशैली और गीतों से पुष्ट रचनायें दी हैं। उनका जो बल है, वह प्रसाद का अपना बल है। उनकी जो कमज़ोरी है, वह हिंदी वालों की कमज़ोरी है, समय की कमज़ोरी है, प्रसाद उसके लिए दोषी नहीं हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने साहित्य और साहित्यकारों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करें। हमारे साहित्य और साहित्यकारों की अपनी सीमाएँ हैं। उन्हें स्वीकार करके ही हमें आगे बढ़ना होगा। जो वह नहीं दे सके, जो वे नहीं दे सकते हैं, उनकी माँग व्यर्थ है। जो वे दे सके हैं, वही बहुत है। अभी उसका भी हमने उपयोग कहाँ किया है! प्रसाद के नाटकों की ही रंगमंच पर परीक्षा कहाँ हुई है! बार-बार रंगमंच पर खेले जाने का प्रयोग हो तो कतर-ब्यौंत के साथ वे बहुत कुछ नाटकीय बन जायेंगे। परन्तु हमारा प्रमाद तो अपार है। हमारा उत्साह तो अगाध है। केवल पठन-पाठन के आधार पर हम नाटकों की अभिनेयता की चर्चा करना चाहते हैं। हमारे विद्यार्थी यह समझने लगते हैं कि प्रसाद के नाटक कुछ नहीं। अभिनय हो तो वे उनके उज्ज्वल पक्षों को भी समझें। परन्तु अभिनय कौन करे? जब तक हमारा रंगमंच विकसित नहीं होता, जब तक प्रसाद के नाटकों को 'पाठ्य-काव्य' के रूप में ही ग्रहण किया जायगा, तब तक गुणों की अपेक्षा उनके दोष ही हमारी आँखों पर अधिक चढ़ेंगे, ऐसा निश्चय है। परन्तु प्रसाद को गये आज १२ वर्ष हो गये। पूरा एक युग बीत गया। कितने सुन्दर नाटक हमारे सामने आए हैं और वे प्रसाद के नाटकों से कितना ऊँचे हैं? १९३१ ई० के बाद यथार्थ-वादी नाटकों की एक नई श्रेणी आई है। परन्तु उनसे प्रसाद के नाटकों की तुलना नहीं हो सकती। उनकी कोटि ही अलग है। प्रसाद के ऐतिहासिक या आदर्शवादी रोमांचक नाटकों की श्रेणी के नाटक अधिक नहीं आये हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'गरुड़ध्वज' और 'नारद की वीणा', गोविन्ददास के 'कर्तव्य', 'हर्ष' और 'शशिगुप्त', डा० रामकुमार वर्मा के 'शिवाजी', उदयशंकर भट्ट के 'चन्द्रगुप्त मौर्य', 'विक्रमादित्य' और 'अम्बा', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का 'अशोक' (१९३५) भगवती प्रसाद पांथरी का 'काल्पी' (१९३५), सत्येन्द्र का 'कुणाल' (१९३७), परिपूर्णानन्द का 'रानी भवानी,' मुरारि मांगलिक का 'मीरा' जैसे नाटक कुछ अवश्य आ गए हैं। ये नाटक अनेक

प्रकार से प्रसाद से प्रभावित हैं और उन्हीं की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। प्रसाद की भावुकता, दार्शनिकता, काव्यशैली उनमें अधिक नहीं है, परन्तु उन जैसे रहस्यवादी गीत और उन्हीं जैसी रंगमंच की दृष्टि से अनेक गलतियाँ मिलेंगी। रंगमंच के अभाव में ये नाटक भी 'पाठ्य' ही हैं। वास्तव में जब तक हिन्दी का अपना रंगमंच विकसित नहीं हो जाता, तब तक नाटकों की अभिनेयता का प्रश्न ही नहीं उठता। सिनेमा के लिए जो सीनेरियो लिखे जाते हैं और रेडियो के लिए जो 'रेडियो ड्रामे' प्रणीत होते हैं, वे प्रतिदिन श्रोताओं और सामाजिकों के सामने आते हैं और इस प्रकार उनकी परीक्षा हो जाती है। उनकी त्रुटियाँ मालूम होती रहती हैं। परन्तु नाटकों का कोई रंगमंच नहीं, उनकी परीक्षा का कोई प्रश्न नहीं, फिर उनकी त्रुटियाँ कैसे जान पड़ें और हमारे नाटककारों के सामने प्रेरणा देने वाली कौन सी चीज़ आये ? फलतः रंगमंच के अभाव के कारण हमारे नाटककारों की रचनाओं में विकृति का आ जाना स्वाभाविक है।

प्रेमचंद और उनका साहित्य

आधुनिक हिंदी साहित्य में प्रेमचंद का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह हमारे सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार और कहानीकार हैं। हमारे युग के साहित्यिकों में सबसे अधिक लोकप्रियता उन्हें ही मिली है और उन्होंने अन्य प्रांतीय भाषाओं के साहित्य और विश्व-साहित्य के सामने हिंदी का मस्तक निःसंदेह ऊँचा किया है। परन्तु यह उनका साहित्यिक महत्त्व है। उनका महत्त्व यहीं समाप्त नहीं हो जाता। हमें यह भी स्मरण रखना पड़ेगा कि उनके साहित्य में समसामयिक भारतीय समाज के द्वन्द्वों और राष्ट्रीय हलचलों का सम्पूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है। उन्होंने जितने विस्तार से और जिस सहृदयता से सारे सामयिक जीवन को वाणी दी है, वह सचमुच श्रेय की बात है।

परन्तु यदि केवल साहित्य की बात उठाई जाय तब भी प्रेमचंद महान् निकलेंगे। उन्हें उपन्यास और कहानी की साहित्यिक आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ज्ञान था और वे इन दोनों क्षेत्रों के सर्वश्रेष्ठ कलाकारों और उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाओं से भली भाँति परिचित थे। 'कुछ विचार' में उपन्यास-कला और कहानी-कला के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा है वह उनके अध्ययन और अनुभव का निचोड़ हमारे सामने उपस्थित करता है और वहाँ हमें ऐसे मानदंड मिल जाते हैं जिन्हें आधार मान कर हमें प्रेमचंद के साहित्य और उनकी कला की परीक्षा करनी होगी। साहित्य के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने कहा है कि वह सारे जीवन को समेट कर

चलता है। उनके शब्द ये हैं: 'साहित्य का आधार जीवन है। इस नींव पर साहित्य की दीवारें खड़ी होती हैं, उसको अट्टारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को जी भी न चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है, इसलिये सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिचित है। जीवन परमात्मा को अपने कार्यों का जवाबदेह है या नहीं, हमें मालूम नहीं. लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए क़ानून हैं, जिनमें वह इधर-उधर नहीं हो सकता।' इस प्रकार प्रेमचंद साहित्य को जीवन से अनिवार्य रूप से सम्बन्धित कर देते हैं और उसे जनहित का ध्वजावाहक बना देते हैं। यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद का दृष्टिकोण हिंदी-उर्दू के सारे पूर्ववर्ती और समकालीन कलाकारों से भिन्न और अधिक व्यापक था। इसी से उनके साहित्य में एकांगीपन नहीं है। वह न ब्राह्म-अब्राह्म की समस्या सुलझाता है, न केवल अवैध प्रेम और नारी के त्याग-तप का गीत गाता है। वह अपने समय के समाज और राष्ट्र के सारे जीवन को अपना कर आगे बढ़ता है।

प्रेमचंद यह भी कहते हैं कि उपन्यासकार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें मौलिकता हो। परन्तु यह मौलिकता 'कल्पना' से सम्बंधित है। उपन्यासकार में नव-नव कल्पना का उन्मेष हो। वह घटनाओं और पात्रों को प्रत्यक्ष करके देख सके। यदि उपन्यासकार पर्याप्त रूप से कल्पनाशील नहीं है तो उसके चरित्र हमें प्रभावित नहीं कर सकते। उनमें प्राण-प्रतिष्ठा होना भी सम्भव नहीं है। प्रेमचंद के सारे साहित्य को देख जाइये, उसमें कहीं भी ऐसा पात्र नहीं मिलेगा जो निष्प्राण और छाया-मात्र हो। जैसे विधाता की सृष्टि विभिन्न और प्राणवान है, वैसे ही प्रेमचंद के नर-नारी परस्पर विभिन्न और प्राणवान हैं। वे हमें जड़ और अस्पष्ट नहीं लगते।

प्रेमचंद यह भी मानते थे कि किसी भी श्रेष्ठ रचना के लिए यह

आवश्यक है कि जनसाधारण उसे पूर्णतया समझ सके। साहित्य और कला खिलवाड़ नहीं है। उनका लक्ष्य है जनहित। अपनी रचनाओं में उन्होंने जनहित का बराबर ध्यान रखा है। इसीसे भाषा की सरलता की ओर उनका आग्रह है। अर्थ गंभीर हो, इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि शैली भी दुर्बोध हो। कथा-कहानी, जैसी साहित्य-कोटि के लिए दर्शन-ग्रंथों की भाषा किंचित भी उपादेय नहीं है। उपन्यास यदि प्रवहमान जनजीवन का चित्र है तो उसे जनता के लिए लिखा जाना चाहिये और कहानी यदि जीवन की छोटी-छोटी भंगिमाओं को पकड़कर चलती है तो उसे सब के लिए सुलभ होना चाहिये। इसीलिए प्रेमचंद ने अपने साहित्य को समाज से अलग नहीं किया। उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक है कि वह घटनाओं की एक शृंखला, उनका एक क्रम-विकास, एक करण-कारणयोग कल्पित करे जिससे अंततः उपन्यास के कथानक की सृष्टि हो, परन्तु साथ ही यह क्रम-विकास, यह योग पात्रों के चरित्र-चित्रण में सहायक हो। प्रेमचंद के उपन्यासों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह कथानक-संगठन को उतना महत्त्व नहीं देते थे जितना चरित्र-चित्रण को। कदाचित् ऐतिहासिक उपन्यासों में कथानक का संगठन अधिक महत्त्वपूर्ण है। सामयिक जीवन का चित्रकर्ता अपने कथानक को शिथिल भी रख सकता है—उसका कथा संगठन उसके चारित्रिक विकास पर निर्भर है। उसे पात्रों की आत्मा की गहराई में पैठना है। यदि संगठित कथानक देता हुआ वह यह कर सकता है तो ठीक, नहीं तो यह आवश्यक नहीं कि वह कथा-सूत्रों को यंत्रवत् संचालित करे। प्रेमचंद के सामाजिक उपन्यासों के कथानक कुछ अधिक संगठित हैं, परन्तु अपने बड़े-बड़े राजनैतिक-सामाजिक उपन्यासों में वह जीवन का सर्वांगपूर्ण चित्र उपस्थित करना चाहते हैं और उन की दृष्टि पात्रों पर रहती है। फलतः वहाँ थोड़ी विशृंखलता मिले तो आश्चर्य की बात नहीं।

प्रेमचंद से पहले के उपन्यासकार अपने विषय ('वस्तु') पर बड़ा

बल देते थे। प्रेमचंद के लिए विषय उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना उसका निर्वाह। किसी भी महान् कलाकार के लिए वस्तु अंतिम लक्ष्य नहीं है। वस्तु के माध्यम से वह जो हमें देना चाहता है वह कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण है। यह सच है कि कोई विषय अधिक महान् होता है, किसी में उतनी संभावनाएँ नहीं रहतीं, परन्तु बहुत-कुछ कलाकार के व्यक्तित्व, उसके ज्ञान-भंडार और उसके दृष्टिकोण पर निर्भर है। उदाहरण के लिए हम प्रेमचंद के नायकों को ले सकते हैं। प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास को नये नायक दिये। अब तक साहित्य में जिन उदात्त नायकों की प्रतिष्ठा थी, उसके विपरीत दुर्बल चरित्र ज्ञानशंकर, अमरकांत और बलराज प्रेमचन्द के नायक बने। उन्होंने हमें बतलाया कि यह आवश्यक नहीं है कि हमारे नायक उच्चवर्गीय हों। उन्होंने साधारण से साधारण नर-नारियों को अपनी रचनाओं में नायकत्व दिया और अपनी प्रतिभा के बल पर साहित्य में मध्यवित्तीय और पीड़ित-शोषित नायकों की एक परम्परा ही स्थापित कर दी। उनकी रचनाओं से हमने पहली बार जाना कि इन 'छोटे' आदमियों में भी सुख-दुःख, घृणा-प्रेम, ईर्ष्या-द्वेष, आत्मसम्मान और बलिदान की उतनी ही गहरी भावना रहती है जितनी उच्चवर्गों में। वस्तुतः साहित्य के ये नायक परम्परागत नायकों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वे भावी पीढ़ियों की आशायें हैं। सूरदास और होरी जैसे नायकों का भविष्य उज्ज्वल है, इस विषय में आज ज़रा भी सन्देह नहीं रह गया है।

साहित्य के संबंध में प्रेमचन्द की धारणा बड़ी ऊँची थी। 'प्रेमचंद घर में' में उन्होंने एक स्थान पर कहा है—'जब तक यहाँ के साहित्य में तरक्की न होगी, तब तक साहित्य, समाज और राजनीति सब के सब ज्यों के त्यों पड़े रहेंगे।' 'इन तीनों का उद्देश्य ही जो एक है। साहित्य और समाज तथा राजनीति का संबंध बिलकुल अटल है। समाज आदमियों के समूह को ही तो कहते हैं। समाज में जो हानि-लाभ तथा सुख-दुःख होता है, वह आदमियों पर ही होता है न। राजनीति में जो सुख-दुःख होता है वह

आदमियों ही पर पड़ता है। साहित्य से लोगों को विकास मिलता है। साहित्य से आदमी की भावनाएँ अच्छी और बुरी बनती हैं। इन्हीं भावनाओं को लेकर आदमी जीता है और इन सब तीनों चीज़ों की उत्पत्ति का कारण आदमी ही है।' साहित्य मनुष्य में सद्वृत्तियाँ जाग्रत करे, तो वह सफल साहित्य है। साहित्य मनुष्य को जीवन-संघर्ष के लिए तैयार करे। वह हथियार की तरह काम में आ सके। वह मूलतः प्रेरणात्मक और निर्माणात्मक हो। इस प्रकार प्रेमचंद का झुकाव आदर्शवाद की ओर था, परन्तु ऐसा आदर्शवाद उन्हें पसंद नहीं था जो मनुष्य को जीवन के यथार्थ से विमुख कर दे। न ऐसा नंगा यथार्थवाद और प्राकृतवाद ही उन्हें अच्छा लगता था जो पशु-प्रवृत्तियों को प्रश्रय दे और जीवन के दुःखमय और घृणापूर्ण पहलुओं को ही सामने अधिक लाये। उन्होंने अपने लिए एक बीच का मार्ग निकाल दिया था जिसे उन्होंने 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' कहा है। १९३६ ई० की प्रगतिशील साहित्यकारों की सभा में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था—'मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीज़ों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्सन्देह कला का उद्देश्य आनन्द की कुंजी है पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं जो कि अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। × × प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने में हमें इसीलिए आध्यात्मिक सुर मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है और जन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनन्द मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला से सौदर्न्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के लिए उपयोगी बनाता है।' इस उद्धरण से उनकी आदर्शोन्मुख विचारधारा और स्वस्थ साहित्यिक दृष्टि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

इस प्रकार यह निश्चय है कि प्रेमचंद का कला की सच्ची परख न यथार्थवाद के मापदंड पर हो सकेगी, न आदर्शवाद के। उनकी कला

का मूलाधार ही आदर्श और यथार्थ का समन्वय है। प्रेमचंद का विश्वास है कि साहित्य समाज और राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। जीवन-संघर्ष का समाधान यदि कहीं पूर्ण रूप से मिल सकता है तो वह साहित्य में। साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य की भावनाओं से है और भाव-क्षेत्र में मनुष्य-मनुष्य में कोई भी अंतर नहीं है। प्रत्येक महान् रचना समाज के अनेक वर्गों के बीच ये समझौता ठहराती है। वह हमारी सहृदयता की वृद्धि करती है और हमारी सहानुभूति के क्षेत्र का विस्तार करती है। यह साहित्य का मंगल-रूप है। प्रेमचंद इससे पूर्णतया परिचित थे। इसी से उनके साहित्य में यथार्थ और आदर्श का विरोध समाप्त हो गया है और मनुष्य की दुर्बलताओं और परिस्थितियों की विडम्बनाओं का चित्रण करते हुए भी उन्होंने सेवा, प्रेम, सत्य, बलिदान और आशा के गीत गाये हैं। मनुष्य मनुष्य है। केवल इसी एक बात से वह महान् है। वह न छोटा है, न बड़ा। जहाँ वह परिस्थितियों से दब गया, वहाँ वह छोटा है, परन्तु परिस्थितियों पर विजय-पताका फहरा कर वह निःसंदेह बड़ा है। मानव की सम्भावनाओं और उसकी महानता में प्रेमचंद का विश्वास अगाध है और यही विश्वास उनके साहित्य को युगांतरकारी बना देता है।

यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद ने हिन्दी उपन्यासकला को बहुत कुछ दिया है। उनकी यह देन छोटी भी नहीं है। प्रेमचंद का साहित्य समसामयिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन का ऐसा दर्पण है जो साहित्य के ऐतिहासिकों और भारतीय संस्कृति के अन्वेषकों के लिए सदैव महत्वपूर्ण रहेगा। कदाचित् किसी भी समकालीन साहित्यकार की कृतियों में बीसवीं शताब्दी के ये तीस-पैंतीस वर्ष इतनी सच्चाई से अंकित नहीं हुए हैं। वस्तुतः १६०५ ई० के लगभग ही हमारी राष्ट्रीयता में सक्रियता आई और बंग-भंग के आन्दोलन के साथ हमने अपने राष्ट्रीय जीवन का एकांततः नवीन अध्याय आरम्भ किया। अगले तीस वर्ष महान् राष्ट्रीय आन्दोलनों और जन-जीवन की भयंकर परीक्षाओं के युग थे। इन वर्षों में अनेक प्रवृत्तियाँ

उलझी हुई हैं। जान पड़ता है, शताब्दियों से जो भारतीय जीवन जड़ता और आत्मप्रताड़न की नींद में सो रहा था, वह सहसा जाग कर अँगड़ाइयाँ लेने लगा और अकस्मात् यह शत-शत योजन-विशाल देश अनेक स्वरों, अनेक गीतों, कुंठा और विरोध के अनेक शब्दों से मुखर हो उठा। प्रेमचंद के साहित्य की महत्ता यही है कि उसमें इस जाग्रति को भुला नहीं दिया गया है। वह अपने युग की सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत है।

हिंदी उपन्यास का विकास और प्रेमचंद

आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-८५) हैं। उन्होंने निबन्ध, नाटक और काव्य के क्षेत्र में नये-नये प्रकरण जोड़े। सामाजिक काव्य, खड़ीबोली की कविता और नाटकों के द्वारा उन्होंने हिंदी साहित्य में एक नये अध्याय का सूत्रपात किया। हिंदी गद्य के तो वे पिता हैं ही। परन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि उन्होंने उपन्यास-कहानी के क्षेत्र में अधिक योग नहीं दिया। आधुनिक ढंग की कहानी तो उस समय अन्य भाषाओं में भी नहीं आई थी, परन्तु उपन्यासों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। 'सीताराम' (१८८७) को छोड़ कर बंकिम-चन्द के सभी उपन्यास उनके जीवन-काल में ही प्रकाशित हुए। वह उस प्रारम्भिक युग के बँगला काव्य और नाटक-साहित्य से पूर्णतया परिचित थे और उन्होने इन दोनों से प्रेरणा लेने का प्रयत्न किया है, परन्तु कदाचित् उस समय तक काव्य को छोड़ कर बँगला साहित्य का कोई भी अंग बंकिम बाबू के उपन्यासों की कोटि तक नहीं पहुँच सका था। और भी आश्चर्य की बात यह है कि उन्होंने एक मराठी उपन्यास का रूपांतर प्रकाशित किया। यह पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा नाम का उपन्यास है जिसे लेखकों ने हिंदी का सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास कहा है। इसमें लेखक ने वृद्ध-विवाह को व्यंग और उपहास का विषय बनाया है। यह कहना कठिन है कि यह उपन्यास भारतेन्दु की ही रचना है। कुछ विद्वानों

का कहना है कि यह मराठी अनुवाद किसी दूसरे व्यक्ति का है। भारतेन्दु ने केवल इसकी पांडुलिपि शुद्ध कर दी थी। परन्तु जो हो, इसमें संदेह नहीं कि वह उपन्यास के महत्त्व से पूर्णतः परिचित थे और स्वतः इस क्षेत्र में योग देना चाहते थे। बाद में उन्होंने 'आपबीती और जगबीती' नाम से एक कहानी भी 'कवि-वचन-सुधा' में प्रकाशित कराई, परन्तु वह अपूर्ण रही। सम्भवतः उनकी प्रतिभा औपन्यासिक नहीं थी।

हिन्दी का पहला उपन्यास लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा-गुरु' (१८८६ ई०) है। इस उपन्यास में भी वही सुधारवादी दृष्टिकोण दिखलाई पड़ता है जो भारतेन्दु के अनुवाद में। दिल्ली के एक सेठ का लड़का बुरे लड़कों की कुसंगत में पड़ जाता है और अन्त में एक मित्र की सहायता से सुधर जाता है। बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान' (१८६१) उपन्यास भी कुछ इसी प्रकार की कथा को लेकर चलता है। श्रीनिवासदास की दिल्ली में एक बड़ी आढ़त थी और कदाचित् धनी लड़कों के बनने-बिगड़ने की समस्या से वे पूर्णतया परिचित होंगे। उपन्यास में नीति-प्रधान उपदेशात्मक उन अँग्रेज़ी साधारण कोटि के उपन्यासों की शैली ग्रहण की गई है जिनसे उन्नीसवीं शताब्दी भरी पड़ी थी। कदाचित् लेखक ने किसी बड़े अँग्रेज़ी उपन्यासकार को सामने नहीं रखा था परन्तु उसकी भाषा शैली और उसके दृष्टिकोण पर विदेशी प्रभाव पूर्णतः अंकित था।

लाला श्रीनिवासदास (१८५१-१८८७) के बाद उपन्यास-क्षेत्र में यदि किसी का नाम लिया जा सकता है तो वे बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४) ही थे यद्यपि वे निबन्धकार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। उनकी एक रचना (सौ अजान एक सुजान, १८६१) के सम्बन्ध में हम अभी-अभी लिख चुके हैं। उनका एक दूसरा उपन्यास है 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६) जो कुछ पहले की रचना है। आज कदाचित् ये दोनों उपन्यास

किसी भी प्रकार महत्त्वपूर्ण नहीं लगें परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे उस समय भी इतने ही अमहत्त्वपूर्ण थे। साधारणतः हम भट्ट जी के निबंधों से परिचित हैं और उन्हें एक श्रेष्ठ शैलीकार के रूप में जानते हैं परन्तु इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचंद की भाषा-शैली और उनकी व्यंगपूर्ण एवं विस्तृत चित्रण-शैली का पूर्वाभास हिन्दी में इन्हीं की रचनाओं में मिलता है। मुहावरों और बोलचाल के प्रयोग से ही प्रेमचन्द हिन्दी-गद्य-क्षेत्र में एक नितांत नवीन शक्ति के रूप में उदय हुए थे। बालकृष्ण भट्ट की भाषा में भी ये दोनों तत्त्व प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। उपदेश और वर्णन-विस्तार इनकी रचनाओं में बहुत अधिक मिलते हैं, परन्तु ये दोनों विशेषताएँ या त्रुटियाँ प्रेमचन्द में भी हैं। यथार्थ-चित्रण इनकी विशेषता है। उर्दू, अवधी, खड़ी बोली, खिचड़ी—सब का उन्होंने यथायोग्य प्रयोग किया है। कदाचित् पात्रों की भाषा की विविधता और असमानेता दिखाकर वे यथार्थ जीवन के निकटतम आना चाहते हैं। प्रकृति-वर्णन की उनकी शैली भी विस्तृत है और प्रेमचन्द से मिलती-जुलती है। डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि वे चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द की तरह आकृतिनिदान की ओर विशेष आकृष्ट थे। चरित्र-चित्रण में भी वे प्रेमचन्द की याद दिलाते हैं। बुद्धदास जैन के चरित्र में उन्होंने व्यंगपूर्ण ढंग से एक अत्यंत स्वाभाविक वैश्व चरित्र हमारे सामने उपस्थित किया। उनके "सौ अजान एक सुजान" नाम के उपन्यास में लगभग वही विषय है जो लाला श्रीनिवास दास ने 'परीक्षागुरु' में अपनाया है। अमीर के बालक कुसंगति में पड़ कर कैसे बिगड़ जाते हैं, यही इन दोनों पुस्तकों के विषय हैं।

इन सामाजिक उपन्यासकारों की श्रेणी में एक तीसरा नाम राधाकृष्ण-दास (१८६५-१६०७) का है जिनका एक मात्र उपन्यास 'निःसहाय हिन्दू' ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना है। इसमें हम हिन्दू-मुसलिम-समस्या को पहली बार उपस्थित पाते हैं। इस पुस्तक की विशेषता इस बात में है कि लेखक ने सेठ-साहूकारों के लड़कों के बनने-बिगड़ने की कहानी

छोड़ कर एक ऐसी समस्या को अपनी कथावस्तु बनाया है जिसका सम्बन्ध किसी वर्ग से नहीं वरन् पूरे समाज से है। प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' (१६२८) में गो-वध और हिन्दू-मुसलिम-सम्बन्धों की समस्या अत्यन्त मार्मिक रूप से उपस्थित की गई है। राधाकृष्णदास इस क्षेत्र में अग्रणी हैं। उनमें एक महान् उपन्यासकार की प्रतिभा बीजरूप में विद्यमान थी। उनके इस उपन्यास में ही हम पहली बार कल्पना की नंदनभूमि को छोड़कर शहर की गंदी गलियों और अंधेरी कोठरियों से परिचय पाते हैं।

यह स्पष्ट है कि इन उपन्यासकारों की मुख्य प्रेरणा साहित्य नहीं थी। वह मूलत: समाज-सुधारक का दृष्टिकोण लेकर आये। साहित्य और कला की छटा दिखाना उनके लिए कोई महत्वपूर्ण बात नहीं थी यद्यपि उनकी रचनाओं में साहित्यकला का नितांत अभाव नहीं है। उपन्यासक्षेत्र में साहित्यिक प्रेरणा का प्रथम रूप हमें जगमोहन सिंह के उपन्यास 'श्यामा-स्वप्न' (१८८८) में दिखलाई पड़ता है। यह कादम्बरी-शैली की काव्यात्मक प्रणय-कहानी है। बाद में इस शैली की अनेक रचनायें किशोरीलाल गोस्वामी ने उपस्थित कीं।

गोस्वामी जी के रचनाओं में साहित्य और समाजसुधार का वह गठ-बंधन पहली बार दिखलाई पड़ता है जिसका सर्वोच्च रूप हमें प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है। उनके तीन विषय हैं समाज-सुधार, इतिहास और प्रेम-रोमांच।

ये विषय बराबर स्वतंत्र रूप में नहीं चलते। उनकी रचनाओं में अनेक ऐतिहासिक अथवा सामाजिक प्रेम-रोमांच की श्रेणी में आती हैं। हिन्दी-क्षेत्र में इतने थोड़े समय में इतने अधिक उपन्यासों की रचना कदाचित् किसी ने नहीं की थी। इसमें संदेह नहीं कि किशोरीलाल गोस्वामी में उपन्यास-रचना की अद्भुत क्षमता थी और अन्य समसामयिकों की अपेक्षा उनका साहित्यिक और सामाजिक दृष्टिकोण भी कुछ अधिक प्रगतिशील था।

उनकी रचनाएँ हैं लवंगलता (१८८६), स्वर्गीय कुसुम (१८८६), त्रिवेणी (१८६०), प्रणयिनी-परिणय (१८६०), हृदयहारिणी (१८६०), कुसुम-कुमारी (१६०१), चपला (१६०३), कनक-कुसुम (१६०३), इन्दुमती (१६०६), तरुण तपस्विनी (१६०६), याकूती लाश (१६०६), ज़िन्दे की लाश (१६०६), लखनऊ की क़ब्र (१६०६), मालती-माधव (१६०६), सोना और सुगन्धि (१६१०), लीलावती (१६१२), लाल कुँवर (१६१३) । बँगला-उपन्यासों में जासूसी उपन्यास की परम्परा कोननडाइल के उपन्यासों के सहारे कुछ पहिले ही विकसित हो गई थी । इन बँगला उपन्यासों के अनुवाद के साथ ही गोपालदास गहमरी हिंदी में आये परन्तु बाद में उन्होंने सीधे अँग्रेज़ी से अनुवाद भी किये और कुछ नये मौलिक जासूसी ग्रंथ भी लिखे । उनका 'जासूस' पत्र उन दिनों बड़ा प्रसिद्ध था और उसने कथा-साहित्य को लोकप्रिय बनाने में बड़ा भाग लिया । किशोरीलाल गोस्वामी ने भी 'उपन्यास' पत्र प्रकाशित किया और उसमें अपनी कुछ सुन्दर रचनायें प्रकाशित कीं । उनकी रचनाओं पर बंकिमचन्द की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है । तारकनाथ गंगोपाध्याय के उपन्यास 'स्वर्णलता' का भी उन पर प्रभाव पड़ा हो । कदाचित् 'लवंगलता' इसी प्रभाव की उपज है । बंकिम की रचनाओं में कल्पना का ऐश्वर्य है, परन्तु 'स्वर्णलता' एक नई धारा ही सूचित करती है । इसमें बंगाली समाज के सुख-दुःख का जो यथार्थ चित्र उपस्थित किया था वह अपूर्व था । शरत की परवर्ती रचनाओं में 'स्वर्णलता' की कला का विशेष विकास मिलता है । परन्तु बंकिम और तारकनाथ गंगोपाध्याय किशोरीलाल गोस्वामी की अंतिम सीमा नहीं थे । उन्होंने हिंदी-प्रदेश की प्रचलित लोक-कथाओं, हिंदी कथात्मक रोमांसों और शृंगार-साहित्य का गहरा अध्ययन किया था और इस अध्ययन के आधार पर उन्होंने अपनी उपन्यास-कला को अपने ढंग पर विकसित किया । रीति-कवियों की कल्पना गद्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुई और पूर्वराग, प्रथम दर्शन, मिलन, मान,

वियोग और पुनर्मिलन के ढाँचे पर प्रेमसम्बन्धी अनेक प्रसंग कल्पित हुए। उनके अनेक उपन्यास हमें संस्कृत नाटकों का स्मरण दिलाते हैं। सच तो यह है कि उपन्यास के क्षेत्र में किशोरीलाल गोस्वामी ने वही काम किया जो नाटक के क्षेत्र में भारतेन्दु ने किया। उन्होंने पूर्ववर्ती सारे साहित्य और समसामयिक रचनाओं के सहारे हिंदी उपन्यास को एक विशिष्ट रूप दिया।

कदाचित् उर्दू उपन्यासों से प्रभावित होकर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में ऐयारी और तिलिस्मी उपन्यासों की एक नई शैली चल पड़ी जिसके प्रवर्तक देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३) थे। चन्द्रकांता (१८९३), नरेन्द्र मोहनी (१८९३), वीरेन्द्र वीर (१८९५), चंदकांता-संतति (१८९४-९६), कुसुम कुमारी (१८९९), नौलखाहार (१८९९) गुप्तगोदना (१९०८), काजर की कोठरी (१९०८), और भूतनाथ (१९९८-१९१३) में उन्होंने रहस्य, तिलिस्म, ऐयारी, जासूसी और घटना-वैचित्र्य का ऐसा आकर्षक रूप इकट्ठा किया कि उनके उपन्यास भाषा-शैली, कलात्मकता और सूझ-बूझ में इस श्रेणी के उर्दू के उपन्यासों को भी पीछे छोड़ गये।

इसमें संदेह नहीं कि उनके ये उपन्यास फ़ारसी-उर्दू के तिलिस्मे होश-रुबा जैसे उपन्यासों से प्रभावित थे परन्तु यह प्रभाव बहुत अधिक नहीं था। वस्तुतः उर्दू-फारसी तिलिस्मी ऐयारी उपन्यास में अतिप्राकृत और अलौकिक घटनाओं को इतना अधिक महत्त्व मिल गया था कि गम्भीर पाठकों के लिए वे किसी भी प्रकार सुरुचिकर नहीं थे। देवकीनन्दन खत्री ने इस प्रकार को सामग्री को अत्यन्त वैज्ञानिक और कलापूर्ण रूप दे दिया। अपनी अद्भुत कल्पना, शैली और कला के बल पर उनमें इतना कौशल और अलौकिकत्व भर दिया कि वे उर्दू और फ़ारसी के तिलिस्मों से कहीं अधिक अद्भुत और आकर्षक बन गये। वस्तुतः कल्पना की प्रचुरता होने

पर भी देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में यही रूपरेखा स्वीकृत है, केवल बाधा का रूप बदला है। बाधा की समाप्ति पर नायक-नायिका-मिलन की एक निश्चित रूपरेखा मिलती है। पहले प्रति-नायक नायिका का हरण कर लेता था। अब वह उसे किसी तिलिस्मी चक्कर में डाल देता है और नायक को अपार कठिनाइयाँ सह कर उसका उद्धार करना होता है। बीच में प्रति-नायक यह भी प्रयत्न करता है कि नायक इसमें सफल न हो। कभी नायिका स्वयं ही किसी तिलिस्मी चक्कर में फँस जाती है और नायक और प्रतिनायक दोनों उसे पाना चाहते हैं। परन्तु प्रतिनायक अंत में असफल होता है और नायक-नायिका के परिणय के साथ कथा समाप्त होती है।

जिस प्रकार उर्दू उपन्यासों का एक विशेष अंग हिंदी में देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों द्वारा पुष्ट हुआ, उसी प्रकार एक दूसरे अंग के लिए बँगला साहित्य से प्रेरणा ली गई। यह साहित्य था जासूसी उपन्यास। पीछे हमने इस वर्ग के उपन्यासकारों में गोपालराम गहमरी का नाम लिया है। उनके उपन्यासों की संख्या बहुत अधिक है। मौलिक रचना अधिक नहीं है परन्तु इसमें संदेह नहीं कि एक विशेष श्रेणी के उपन्यासों का सृजन उनके द्वारा हुआ और उनकी रचनाओं ने उस प्रारम्भिक युग के उपन्यासों को लोकप्रिय बनाया। साहित्य की दृष्टि से उन उपन्यासों का मूल्य अधिक नहीं है परन्तु इस प्रकार की रचनाओं की एकदम अवहेलना भी नहीं की जा सकती। यह जन-साहित्य है और मनोरंजन मात्र के लिए लिखी गई साहित्यिक रचनाओं से यह अधिक भिन्न नहीं है। इसे हमें देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों की शैली में ही रखना होगा यद्यपि खत्री के उपन्यास कला और मनोरंजकता की दृष्टि में बहुत आगे हैं।

ये कुछ हिंदी उपन्यासों की विभिन्न श्रेणियाँ थीं जिनका संबंध हमें प्रेमचंद की रचनाओं से जोड़ना होगा। इसमें संदेह नहीं कि देवकीनन्दन

खत्री और गोपालराम गहमरी के उपन्यासों से उनका कोई संबंध नहीं है। उन्हें हम लाला श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास और किशोरी लाल गोस्वामी से ही सम्बंधित कर सकते हैं। लाला श्रीनिवासदास की रचना में नीतितत्त्व की प्रधानता थी। उसका कला-रूप सुघड़ नहीं था। नीतितत्त्व की प्रधानता प्रेमचंद की रचनाओं में भी है परन्तु उनके उपन्यासों की कलाभूमि ही दूसरी है और उनमें आकाश-पाताल का अंतर है। बालकृष्ण भट्ट की भाषाशैली, व्यंगप्राणता और कला प्रेमचंद के बहुत पास पहुँच जाती है, परन्तु उन्होंने इस क्षेत्र में अधिक योग नहीं दिया। राधाकृष्ण दास ने तो केवल एक ही उपन्यास लिखा। अलबत्ता किशोरी लाल गोस्वामी इस क्षेत्र में विशेष कृती हुए। प्रेमचंद ने उन्हीं के क्षेत्र को अपनाया और वे ही उनके बाद हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कथाकार हुए। परन्तु कम से कम भाषा-शैली और कला-परिपाक एवं सामाजिक दृष्टिकोण में दोनों में अधिक समानता नहीं थी। प्रेमचंद के लिए उपन्यास समाज-सुधार और राष्ट्रीय क्रान्ति का महान अस्त्र था, केवल मनोरंजन नहीं।

राष्ट्रीय प्रेरणा हिंदी के उपन्यासों में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के साथ आई। इस प्रेरणा का सब से सुन्दर रूप ऐतिहासिक उपन्यासों में मिलेगा। अधिकांश प्रारम्भिक ऐतिहासिक उपन्यास प्रेम-रोमांस थे। हिंदी में ऐतिहासिक चेतना का आरम्भ भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक (१८८१ ई०) से हुआ परन्तु उपन्यास के क्षेत्र में यह चेतना बहुत बाद में आयी। किशोरी लाल गोस्वामी के कुछ उपन्यास आंशिक रूप से ऐतिहासिक अवश्य हैं, परन्तु शुद्ध ऐतिहासिक चेतना का उनमें नितांत अभाव है। वह प्रेम-रोमांस ही अधिक हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्काट और बंकिम की ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा को हिंदी ने उनके शुद्ध रूप में नहीं अपनाया। प्राक्-प्रेमचन्द युग में कुछ ऐतिहासिक उपन्यास अवश्य आये जैसे नूरजहाँ (गंगाप्रसाद गुप्त, १६०८), पृथ्वीराज चौहान और पानीपत (बलदेव प्रसाद मिश्र १६०२), कुमारसिंह सेनापति (गंगाप्रसाद गुप्त, १६०३)

हम्मीर (गंगाप्रसाद गुप्त, १६०४), पंजाब-पतन (श्यामसुन्दर वैद्य १६०४), नूरजहाँ (मथुराप्रसाद शर्मा १६०५), काश्मीर-पतन (जयरामदास गुप्त, १६०७) , चाँद बीबी (वही, १६०६), अमीर अली ठग (चन्द्रशेखर पाठक, १६११), महाराष्ट्र वीर (रामप्रताप गुप्त, १६१३), वीर चूड़ामणि (कृष्णप्रकाश सिंह अखौरी, १६१५), रज़िया बेगम (ब्रजनन्दन सहाय, १६१५), अनंगपाल (दुर्गा प्रसाद खत्री १६१७), और चौहानी तलवार (हरिदास माणिक, १६१८)। इन उपन्यासों में राजपूत-युग से लेकर मुग़लों के पतन तक का सारा इतिहास आ जाता है। कला की दृष्टि से ये उपन्यास अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं परन्तु उनसे युग की रुचि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द ने इसी को अपनाया है। द्विवेदी-युग के उपन्यासकार, कहानीकार और नाटककार इतिहास के क्षेत्र में राजपूत-युग से पहले नहीं जाते थे। राजपूतों का शौर्य और राजपूत नारियों की बलिदान-गरिमा से इस युग के सारे साहित्यिक चमत्कृत थे। राष्ट्रीय भावनाओं का जन्म हो रहा था और हिन्दी के लेखक इसी प्रभाव को लेकर राजपूत युग की ओर मुड़े। बंकिम बाबू के 'राजसिंह' (१८६२) ने लेखकों के सामने साहस, वीरता और आदर्श का नया संसार खोल दिया था। टाड के राजस्थान ने और मौखिक रूप से प्रचलित राजपूत साहस की बीसियों कहानियों ने हिन्दी के उपन्यासकारों और कहानीकारों को नये विषय दिये। प्रेमचंद ने इस प्रभाव को केवल आंशिक-रूप में ग्रहण किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सेवासदन' के प्रकाशन (१६१६) से पहले हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में बहुत कुछ संग्रहणीय आ चुका था। हिन्दी का उपन्यास समाज के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को लेकर ही क्षेत्र में आया। समाज-सुधार की भावना उसकी मेरुदंड थी। वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह, दहेज, वेश्यागमन और हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य आरम्भ से ही हिन्दी उपन्यासकारों के प्रिय विषय बन गये। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों

में मध्यवित्त की अनेक समस्यायें मिल जाती हैं। प्रेमचंद का पहला महत्व-पूर्ण उपन्यास 'सेवासदन' प्रकारांतर से 'परीक्षा-गुरु' और 'सौ अजान एक सुजान' की समस्याओं को ही उपस्थित करता है। प्रेमचंद के एक समसामयिक (विश्वम्भरनाथ कौशिक, मा, १६२६) ने एक वृहद् उपन्यास में 'सेवासदन' की समस्या को ही फिर उठाया। प्रेमचंद के उपन्यासों में अनमेल विवाह के अनेक प्रसंग आते हैं और 'निर्मला' (१६२३) का तो केन्द्रविन्दु ही अनमेल-विवाह और दोहाजू की समस्या है। इस समस्या से प्रेमचंद व्यक्तिगत रूप से परिचित थे। हिन्दू-मुसेलिम-समस्या भी उनके उपन्यासों में कई बार आई है। 'प्रेमाश्रम' (१६२२), 'कायाकल्प' (१६२८) और 'रंगभूमि' (१६२४) में प्रेमचंद इस समस्या के कई पहलुओं को उपस्थित करते हैं। इतिहास से प्रेमचंद को विशेष प्रेम नहीं था। प्राचीन इतिहास को लेकर उन्होंने एक भी उपन्यास नहीं लिखा, परन्तु ऐतिहासिक या समसामयिक युग उनमें कदाचित् बहुत अधिक मिल जाता है। उनकी राष्ट्रीय प्रेरणा का यही रूप है। वह जनता द्वारा प्रति-दिन बनते उपन्यास को देखते हैं। जड़ इतिहास का ऐतिहासिक रोमांस उनके विषय नहीं हैं। जासूसी, ऐयारी और तिलिस्मी उपन्यासों ने उनके भाषा-प्रवाह और उनकी कला को प्रभावित किया है, परन्तु प्रेम-रोमांस की परम्परा को प्रेमचंद ने अपने प्रारम्भिक उपन्यासों और अपनी कहानियों में खूब निबाहा। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचंद अनेक सूत्रों द्वारा पूर्व-वर्ती हिन्दी-कथा-साहित्य में बँधे हुए हैं। वह उर्दू से हिन्दी में आये, इस एक बात की इतनी बार पुनरुक्ति हुई है कि हम यह भूल गये हैं कि प्रेमचंद हिन्दी-परम्परा से अधिकतः पूर्ण रूप से सम्बद्ध हैं। इसमें संदेह नहीं कि वह उर्दू उपन्यास-परम्परा से कहीं अधिक हिन्दी उपन्यास-परम्परा से जुड़े हुए थे और कदाचित् इसीलिए बाद में उन्हें हिन्दी से अपना सम्बन्ध जोड़ना पड़ा।

कहानीकार सुदर्शन

हिन्दी कहानी साहित्य में ऐसे कई कहानीकार हैं जो पहले उर्दू में लिखते थे और बाद को हिन्दी के क्षेत्र में आए। इनमें प्रेमचन्द और सुदर्शन प्रधान हैं। इन दोनों कहानी-लेखकों की यह विशेषता है कि इनकी भाषा मुहावरों और तरकीबों से भरी पड़ी है। उर्दू भाषाशैली में हिन्दी भाषाशैली की अपेक्षा लोच और प्रवाह कहीं अधिक है। उर्दू के लेखक होने के कारण उसकी भाषा-शैली की विशेषता इनकी रचनाओं में भी मिलेगी।

प्रेमचन्द मानव-मनोविज्ञान के पंडित हैं। इसके विपरीत सुदर्शन मनुष्य के मनोभावों का रस की दृष्टि से चित्रण करने में एक हैं। साधारणतः लोग रससृष्टि को कवि का काम समझते हैं। कहानियों के सीमित क्षेत्र में रस का आविर्भाव और तदनन्तर उसका विकास करना बहुत कठिन है। उपन्यास में प्रत्येक घटना अथवा मनोभाव का विस्तारपूर्वक वर्णन हो सकता है और उसमें रस की स्थापना भी की जा सकती है परन्तु कहानी में इसके लिए अधिक अवकाश नहीं। कहानीकार रस की सृष्टि नहीं करता। वह रस की व्यंजना करता है। रस की व्यंजना भी उतनी सरल बात नहीं है। इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि कहानीकार प्रत्येक घटना या मनोभाव की आत्मा में एक कवि की तरह घुसे। हिन्दी कहानी-साहित्य में सुदर्शन ही एक ऐसे कलाकार हैं जो प्रत्येक

मनोभाव को बिलकुल प्राकृतिक ढंग पर और उसे प्रभावशाली बना कर कम से कम शब्दों में पाठक के सामने इस प्रकार रख देते हैं कि वह स्वयं इस मनोभाव में डूबने-उतराने लगता है। सच बात तो यह है कि मनुष्य के मनोभावों की गहराइयों में उतरने के लिए लेखक के पास भाषा पर भी ऐसा अधिकार होना चाहिए जिससे वह एक विशेष मनोभाव को विशेष शब्दों में व्यक्त कर सके। यदि पहली बात न होगी तो लेखक रसपूर्ण स्थलों को पकड़ ही न सकेगा और यदि दूसरी बात न हुई तो वह अपनी रसानुभूति को पाठक तक नहीं पहुँचा सकता। जहाँ रस की बात है वहाँ कहानी और कविता में विशेष भेद नहीं है और रस की सृष्टि दोनों में एक ही प्रकार से होती है। सुदर्शन में यह बात है कि वह मनुष्य के मनोभावों के चित्रकार कहे जा सकते हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में और कम से कम शब्दों में उन्होंने रस की सृष्टि की है—"जिसका दिल कुढ़ रहा हो, जिसकी आँखें आँसू बरसा रही हों, जिसका दिमाग़ परेशान हो, उसके होठों पर मुस्कुराहट ऐसी भयानक होती है, जैसे शमशान में चाँदनी"।

"शिशुपाल ने आग में पड़े पत्ते की तरह गरम होकर उत्तर दिया।"

"उसकी आँखें इस तरह खुली हुई थीं मानो आत्मा की समस्त शक्तियाँ आँखों में इकट्ठी होकर किसी की प्रतीक्षा कर रही हो।"

"मानव-हृदय एक अपार सागर है जहाँ कमल के फूलों के साथ खूनी जोंके भी पैदा होती रहती हैं।"

"ईमान मुझे हवा से हलका और पानी से पतला मालूम होने लगा।"

सुदर्शन ने एक अच्छे कवि की प्रकृति पाई है। इसका प्रभाव उनकी कहानियों के कई अंगों पर पड़ा है। उनकी दृष्टि रस की ओर अधिक है। इसीलिए वह कभी तो घटनाओं के चुनने में रसपूर्ण स्थलों की ही खोज करते हैं और कभी भाषा-शैली में कला के तत्त्वों का प्रयोग करते हैं। उनकी कितनी ही कहानियाँ ऐसी हैं जिनके विषय और प्लाट प्रेमचन्द के

कहानियों की तरह मानव-मनोविज्ञान पर आश्रित नहीं है वरन् रस के ऊपर आश्रित हैं (देखिये कहानियाँ शीर्षक—"कवि" और "कमल की बेटी") शैली में काव्यात्मकता को अधिक स्थान मिलता है। सुदर्शन उपमानों और रूपकों का बड़ा सुन्दर प्रयोग करते हैं—"परन्तु क्या पता था कि यह ख़ुशी अस्त होते हुए सूर्य की लाली हैं।" उनका दृष्टिकोण रसपूर्ण और काव्यात्मक रहता है और वह मनोविज्ञान के सत्यों से अच्छी तरह परिचित होना हैं। उनकी वर्णन शैली में पात्र की मनोवैज्ञानिक आलोचना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह स्थान-स्थान पर अपने विचार प्रगट करते रहते हैं और इन विचारों में अनेक मनोवैज्ञानिक तत्त्व गुंथे होते हैं। प्रेमचन्द जिस प्रकार मनोविज्ञान को अपनी कहानी का बीज बनाते हैं अथवा कहानी की नींव किसी मनोवैज्ञानिक तथ्य पर रखते हैं सुदर्शन वैसा नहीं करते। वे कहानी लिखते हुए घटनाओं के बीच में अन्य पुरुष सर्वनाम का प्रयोग करते हैं और एक दृष्टामात्र की तरह कहानी की घटना या पात्र पर मनोवैज्ञानिक आलोचना कर देते हैं। वे किसी घटना का वर्णन करते हैं तो उसके साथ-साथ एक ऐसा वाक्य जोड़ देते हैं जो उस घटना के मनोवैज्ञानिक विकास अथवा मनोवैज्ञानिक अंग पर प्रकाश डालता है। इसके बाद वे एकदम फिर घटना की ओर मुड़ जाते हैं। इससे कहानी का सारा क्षेत्र एक बार एक नये प्रकाश से झिलमिला उठता है जैसे—

"रात के जगने से कवि का बदन चूर-चूर हो रहा था परन्तु अपनी प्रतिमा के प्रदर्शन की चाह ने थके हुए पैरों में पर लगा दिये थे।"

सुदर्शन की कहानियों का क्षेत्र हमारा मध्यवर्ग का समाज है। उनके कथानक साधारणतः नगर के रहने वालों, पढ़े-लिखे नौकरी-पेशा लोगों और साधारण वित्त के दुकानदारों के अच्छे चित्र उपस्थित करते हैं। पंजाब के कहानीकारों की एक विशेषता यह है कि वे अपनी कहानियों में

स्थानीय रंग को बहुत ऊँचा स्थान देते हैं। सुदर्शन उस जीवन का चित्रण करते हैं जिससे वे भली भाँति परिचित होते हैं। उन्होंने हमारे जीवन के साधारण और प्रत्येक दिन की घटनाओं को हमारे सामने रखा है। हमारे जीवन में कभी-कभी बहुत सी साधारण बातें बड़ा महत्त्व बना लेती हैं। फिजूलखर्ची, शादी-ब्याह, नौकर-चाकर, रोग-शोक —ये कुछ ऐसी बातें हैं जो प्रत्येक गृहस्थी के जीवन की समस्या बन जाती हैं और कभी-कभी हमारे जीवन में परिवर्तन लाने का कारण बन जाती है। सुदर्शन की कहानियों के पात्रों के जीवन में बार-बार इस तरह की घटनाएँ आती हैं और इन घटनाओं का पात्र पर अनेक प्रकार से प्रभाव पड़ता है। कहानीकार कदाचित् यह दिखाना चाहता है कि मनुष्य का स्वभाव मूलतः परिवर्तनशील है। मनुष्य के ऊपर उसके वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है और उसका स्वभाव वातावरण के बदलने के साथ बराबर बदलता रहता है, परन्तु एक समय ऐसा आता है जब मनुष्य का स्वभाव एक प्रकार से दृढ़ हो जाता है। सम्भव है कि स्वभाव की यह दृढ़ता बहुत दिनों तक अथवा जीवन के अंत तक बनी रहे। परन्तु अधिकतः ऐसा होता है कि मनुष्य के जीवन में ऐसी घटनाएँ आती हैं जो उसके वर्षों के संघर्षों के बाद दृढ़ हुए स्वभाव को बदल देती हैं। इस धारणा का प्रभाव कहानीकार के जीवन के प्रति दृष्टिकोण पर भी पड़ा है। सुदर्शन ने जहाँ आदर्श पात्र उपस्थित किए हैं वहाँ भी उन्हें एकदम परिवर्तन से परे नहीं बना दिया। उनके आदर्शपात्र पर भी वातावरण का प्रभाव उसी तरह होता है जिस तरह अन्य पात्रों पर। इस प्रकार वे एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सत्य की रक्षा कर पाते हैं। जिन कहानियों के पात्र आदर्श नहीं है उनमें पात्रों के चरित्र के बलवान और निर्बल स्थल साथ-साथ मिला दिये गये हैं। सुदर्शन के पात्र इस सत्य को स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य घटनाओं और वातावरण से प्रभावित होकर अनेक बुराइयाँ ग्रहण कर लेता है और उसके चरित्र में दुर्बलता आ जाती है परन्तु वह दूसरे समय

घटनाओं और वातावरण से प्रभावित होकर उन बुराइयों को छोड़ कर पुण्यशील बन जाता है। यह स्पष्ट है कि ऐसे स्थलों पर जहाँ इस प्रकार का परिवर्तन होगा पात्र के अच्छे-बुरे मनोभाव परस्पर टक्कर लेंगे और कहानीकार को अत्यन्त संघर्षपूर्ण परिस्थिति मिल जायगी जिसमें वह कला की स्थापना कर सकेगा। मनोभावों अथवा हृदय के उद्वेगों का संघर्ष दिखाने में सुदर्शन सिद्धहस्त हैं।

परन्तु सुदर्शन की कहानियों का कलापक्ष अधिक बलशाली है। वे शायद यह समझते हैं कि पाठक की उत्सुकता को उत्तेजित रखना कला का दोष है। इसीलिए वे कहानी लिखते समय भविष्य की परिस्थितियों का संकेत करते रहते हैं और पाठक आगे आने वाली घटनाओं के लिये पहले से ही तैयार हो जाता है। कहीं-कहीं तो वे कथानक को इस तरह गढ़ते हैं कि उसी से आगे आने वाली परिस्थितियों का संकेत हो जाता है। यदि हम शुद्ध कला पर विचार करें तो इस तरह कहानी की रोचकता के ऊपर धक्का लगता है और उसकी प्रभावशीलता में कमी हो जाती है। इसके अतिरिक्त उनकी कहानियों में केवल कला-पक्ष की हानि ही नहीं है, अन्य कुछ बड़े दोष भी हैं। उनका दृष्टिकोण प्रेमचन्द से भी अधिक नैतिक है और वह "कर भला होगा भला" जैसे निर्बल, अवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आश्रित है। उनकी कहानियाँ कदाचित् पुण्यपक्ष को पुष्ट करने के लिये ही लिखी गई हैं। विवाहिता पत्नी को दुःख देने से पात्र एकदम मुसीबत में पड़ जाये, उसकी जान पर बन जाये और फिर कर्मवश (अकस्मात् या दैववश) अंत को पत्नी से भेंट होने पर ही उसका दुर्दैव से छुटकारा हो (देखिये "प्रतिकार")—यह कोई विधाता का नियम नहीं है; पाप की कमाई का अंत वही तो देखा नहीं जाता जो सुदर्शन दिखाते हैं। यही नहीं, पाप-पुण्य की यह समस्या मृत्यु के बाद भी बनी रहती है। पत्नी की मृत्यु के बाद पति दूसरा ब्याह कर लेता है, तब फिर पहली पत्नी "स्वप्न" में आती है, फिर बदला चलता है, आख़िर पाप का फल मिलेगा ही। इन सब

कहानियों में आकस्मिकता की प्रधानता है, यहाँ तक कि जहाँ लेखक समाज पर व्यंग कर रहा है (जैसे "अंधकार" में) वहाँ भी अनेक मृत्युओं के चक्र के रूप में कहानी की डोर विधाता यवनिका के पीछे से हिला रहा है। हम कह चुके हैं, सुदर्शन की श्रेष्ठता के और ही कारण हैं, चरित्र-चित्रण की प्रधानता या सूक्ष्मता अथवा मानसिक संघर्ष का चित्रण अथवा मनोविज्ञान के किसी मूल तत्त्व का स्पष्टीकरण उनमें नहीं है—(देखिये "न्याय की परख")।

समसामयिक हिन्दी साहित्य

समसामायिक साहित्य से हमारा तात्पर्य पिछले १० वर्षों के साहित्य से है। इस साहित्य की सामूहिक गति-विधि को हमें देखना है और इसके भविष्य के सम्बन्ध में अनुमान लगाना है। प्रत्येक युग का साहित्य पिछले युग के साहित्य के भीतर जन्म लेता है। उसके अनेक अंकुर हमें पहले ही मिलने लगते हैं। यदि यह बात ठीक है तो हम समसामयिक साहित्य के अध्ययन से कल के साहित्य की एक सामान्य रूप-रेखा भी स्थिर कर सकते हैं।

समसामयिक साहित्य में जो प्रवृत्तियाँ प्रधानता पा रही हैं उनका जन्म १९३६ ई० के लगभग होता है। कई दृष्टियों से यह वर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी वर्ष प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' और जैनेन्द्रकुमार का 'सुनीता' उपन्यास प्रकाशित हुआ। 'कफ़न' की अधिकांश कहानियाँ भी इसी वर्ष या कुछ पहले लिखी गईं। 'कफ़न' की कहानियों में प्रेमचन्द पहली बार एक नये दृष्टिकोण की ओर बढ़ते दिखलाई पड़ते हैं। अपने पहले उपन्यासों की दृष्टिकोण को उन्होंने 'यथार्थोन्मुख आदर्शवाद' कहा है, परन्तु 'गोदान' और 'कफ़न' में वह विशुद्ध यथार्थवादी हैं। 'गोदान' में उन्होंने होरी जैसे एक सामान्य दुर्बल कृषक को अपनी कथा का नायक बनाया है। होरी किसी भी तरह आदर्श नहीं कहा जा सकता। भारतीय कृषक की सारी मजबूरियों का वह सम्पूर्ण चित्र है। परन्तु इन मजबूरियों ने उसे एक अत्यन्त विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द समाज के सारे संगठन और सभ्यता

के सारे ढोंग एवं धर्म और ईश्वरवाद को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। 'सुनीता' में जैनेन्द्र प्रेम और भोग की समस्या को और भी नंगे रूप में सामने रखते हैं। 'कफ़न' की कहानियाँ समाज की धर्म, संस्कृति, सभ्यता, विवाह और प्रेम की सारी विडम्बनाओं को और भी शक्ति के साथ उपस्थित करती हैं। मनुष्य कहाँ तक गिर गया है, करोड़ों-करोड़ों व्यक्तियों के जीवन में सुख प्रवंचना-मात्र है, यह पाठक से छिप नहीं सकता। यह स्पष्ट है कि इसकी ज़िम्मेदारी समाज और राष्ट्र पर है—उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीय करण और अर्थ का संतुलित वितरण ही इन रोगों का निदान है। इन उपन्यासों और कहानियों ने साहित्य की उस धारा का श्रीगणेश किया जिसे प्रगतिवाद कहते हैं। वैसे प्रेमचन्द के उपन्यासों और उनकी कहानियों में सामयिक, सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है, परन्तु अब साहित्यिक केवल तटस्थ विचारक न रह कर क्रान्तिकर्मी बन गया है।

काव्य-साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस क्रांति के कई पहलू हैं। एक पहलू बच्चन की कविता है जिसमें कवि के अपने व्यक्तिगत स्वर इतने मुखर हो गये हैं कि उसके पास गोपनीय कुछ भी नहीं रह गया है। भाषा, विषय, छन्द और टेकनीक के नये प्रयोगों के साथ वह जीवन, प्रेम और संसार एवं प्रकृति को नई आँखों से देखता है। छायावादी काव्य कल्पना के पंख लगा कर आकाश में उड़ा-उड़ा फिरता था। बच्चन, नरेन्द्र, अंचल, शिवमंगलसिंह 'सुमन' और गिरिजाशंकर माथुर की कविताओं में वह स्पष्टतया जीवन के निकटतर आ गया है। दूसरा पहलू पंत की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कविताएँ हैं जिनमें कवि समाज, राष्ट्र और भावी संस्कृति की नई रूपरेखा तैयार करता है और लोक-नेता के रूप में सामने आता है। १९३६ ई० के आस-पास भारतीय राजनीति में एक नई शक्ति ने पदार्पण किया। यह समाजवाद या साम्यवाद की शक्ति थी। भारतीय राजनैतिक क्षेत्रों के लिए समाजवाद और साम्यवाद

नए शब्द नहीं थे। १९२१ ई० की रूसी क्रान्ति के बाद ये शब्द संसार में प्रचलित हो गए थे। हिन्दी के कवि और साहित्यकार भी इनसे परिचित थे। परन्तु इसी समय महात्मा गाँधी ने राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण किया और आध्यात्मिक साधनों को लेकर भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई आरम्भ की। गाँधीजी ने जिन मूल्यों पर बल दिया वे सांस्कृतिक मूल्य थे। सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, त्याग, कष्ट-सहन, आत्मप्रताड़न और साधन की शुद्धता को उन्होंने एक महान् साम्राज्य के विरुद्ध शस्त्र को तरह चलाया। हिन्दी कवियों और कथाकारों के लिए आध्यात्मिक अस्त्रों द्वारा लड़ी हुई यह लड़ाई गौरव और अभिनन्दन का विषय थी। भारतीय संस्कृति में जो कुछ उन्नत और महान् था, गाँधी जी उसके प्रतीक के रूप में सामने आए। परन्तु गाँधी जी के आन्दोलनों ने कवियों और कथाकारों को कुछ गहरा सोचने पर भी बाध्य किया। उन्होंने अपने चारों ओर के दुःख और क्रन्दन के लिए एक निदान की खोज की। समाजवादियों के पास एक बना-बनाया निदान था—मार्क्स और मार्क्सवाद। मार्क्सवाद के रूप में एक नया जीवन-दर्शन साहित्यकारों के सामने आया और उन्होंने कभी गाँधी-वाद और मार्क्सवाद में पटरी बैठाने का प्रयत्न किया, कभी मार्क्सवाद की श्रेष्ठता के गीत गाये। पंत के परवर्ती काव्य में भूतवाद और अध्यात्मवाद, गाँधीवाद और मार्क्सवाद का यह द्वन्द्व पूर्णतयः प्रतिबिम्बित है। सम-सामयिक साहित्य अभी इन दो 'अतियों' के बीच में से अपना मध्यम मार्ग नहीं निकाल सका है।

परन्तु फिर भी यह गौरव की बात है कि समसामयिक साहित्य में प्रगतिशील मानवजीवन के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये गये हैं और उन्हें एक सार्वभौमिक पटभूमि में रख कर उन पर विचार किया गया है। उदाहरण-स्वरूप हम 'ग्राम्या' (पंत) को ले सकते हैं जिसमें हम कवि को नारी-पुरुष के अप्राकृतिक जीवन, आधुनिक सभ्यता और ग्रामीण जीवन की विडम्बनाओं के प्रति खड्गहस्त पाते हैं। 'ग्राम्या' का कवि केवल नैतिक

उन्नयन नहीं चाहता। बहिरन्तर रूपांतर हो। ग्राम हमारी संस्कृति की इकाई हो। ग्रामों में रहने वाली जनता के कुसंस्कारों का नाश हो और उनकी सहज स्फूर्ति और सहज अनुभूति के आधार पर नई संस्कृति का निर्माण हो। नारी नर से स्वतंत्र जीवन की महत्त्वपूर्ण इकाई बन जाये। पुरुष-नारी की कामेच्छा अन्न-जल की इच्छा की तरह स्वाभाविक और स्वस्थ वृत्ति बने। श्रम ही इस नई संस्कृति का मूलभूत सिद्धान्त बने जिससे कोई किसी का शोषण न कर सके। परन्तु सामाजिक जीवन के इस पुन-र्संगठन के साथ मनुष्य के अन्तर्जगत का भी पुनर्संगठन हो। दया, क्षमा, सहयोग, सत्य, अहिंसा इत्यादि उपयोगी जीवन-तत्त्वों का उपार्जन आवश्यक समझा जाये। मध्ययुग में नेताओं की दृष्टि अन्तर्जगत के संजीवी तत्त्वों पर ही अधिक थी, आज हम अन्न-वस्त्र पर ही अधिक बल देते हैं। दोनों दृष्टिकोण संकीर्ण हैं। मनुष्य को एक ही समय एक साथ दोनों तत्त्वों का उपार्जन करना होगा तभी वह एक नये स्वर्ग का अवतरण देख सकेगा। कला, साहित्य और संगीत के जो तत्त्व मध्ययुग की संस्कृति के प्रमुख अंग थे वे आज मृतप्राय हैं। आज युग के अनुरूप नई रागात्मिक वृत्ति का अन्वेषण करना होगा। इस प्रकार वहिर्जगत, अंतर्जगत और रागात्मिक वृत्ति के पुनर्निमाण द्वारा हम नये मानव को नये ढंग से गढ़ सकेंगे। स्वस्थ ग्रामीण संस्कृति के साथ नागरिक संस्कारों का योग होगा और देश-काल के बंधन को तोड़कर कालांतर में यह संस्कृति विश्व-संस्कृति बन जायेगी। तब जनयुग का आरम्भ होगा।

यह स्पष्ट है कि समसामयिक साहित्यकर्ता आज अत्यन्त जागरूक है। वह न केवल हृदयधर्मी है, न बुद्धिविलासी। उसे युग की समस्याओं को हल करने की चिंता है। वह देश, समाज और संसार को एक नये पथ पर डालना चाहता है। यह स्पष्ट है कि वह पुराने मूल्यों को अस्वीकार कर रहा है। परन्तु उसने अपने साहित्य-द्वारा जो नये मूल्य उपस्थित किये हैं वे क्या कम महत्त्वपूर्ण हैं?

पाँच वर्ष हुए देश स्वतंत्र हो गया है और हिन्दी का साहित्यकार नई ज़िम्मेवारियाँ लेकर अपने कर्तव्य-क्षेत्र में उतर आया है। अभी उसकी दिशाएँ ठीक-ठीक निर्दिष्ट नहीं हुई हैं—कुछ इसी से समसामयिक साहित्य विशृंखल जान पड़ता है—परन्तु नया मार्ग खोजने के लिए वह बद्धपरिकर है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। काव्य के क्षेत्र में पंत की चार रचनाएँ 'स्वर्ण-धूलि' (१९४७), 'स्वर्ण-किरण' (१९४७), 'युग-पथ' (१९४९) और 'उत्तरा' (१९५०) दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' (१९४८) और नरेन्द्र का 'रक्त-चन्दन' (१९४८), उपन्यास के क्षेत्र में अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' (१९४०-४८), भगवती बाबू का 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' (१९४८), अमृत लाल नागर का 'महाकाल' (१९४८) और उपेन्द्रनाथ अश्क का उपन्यास 'गिरती दीवारें' (१९४६), कहानी के क्षेत्र में कृष्णचन्द, बलराज साहनी, अश्क और भगवतीचरण वर्मा की रचनायें नये चिंतन और नये कला-प्रयोगों के प्रमाण हैं। इन रचनाओं के होते हुए हिन्दी का सामयिक साहित्य भावी के प्रति निःशंक दृष्टि से देख सकता है। नाटक के क्षेत्र में अभी हम कोई मार्ग निकाल नहीं सके हैं परन्तु विभिन्न प्रान्तों में और अखिल भारतीय स्तर पर रंगमंच के पुनरुत्थान का एक बड़ा प्राणवान प्रयत्न हो रहा है। नये रंगमच के लिए जो नाटक लिखे गये हैं वे थोड़े हैं परन्तु वे आगे के नाटकों के लिए पथ-प्रदर्शन का काम देंगे। निबन्ध, आलोचना, रिपोर्टाज रेडियो-नाटक और फ़ीचर और अन्य अर्वाचीन साहित्य-कोटियों के क्षेत्र में सामयिक साहित्य ने जो दिया है वह किसी भी तरह समय के पीछे नहीं है। राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी का जो गौरव मिलने जा रहा है, उस गौरव की रक्षा सामयिक साहित्य पूर्णतयः कर सकेगा, ऐसी आशा हो तो कोई भ्रांति की बात नहीं है। हिन्दी भाषा के अन्तर्प्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की वृद्धि के साथ उसका साहित्य भी हिन्दी प्रदेश की सीमाओं से निकल कर अखिल भारतीय और सार्वभौमिक महत्त्व प्राप्त करेगा और वह निकट भविष्य में ही विश्व साहित्य को नये-नये रत्न देगा।

जन-साहित्य

हमारे अपने युग में जन साहित्य की आवाज जोरों से उठी है। रूस में गोर्की ने और हमारे अपने देश में प्रेमचंद ने सबसे पहले इस प्रकार का साहित्य तैयार किया है जिसमें पीड़ितों, शोषितों और उपेक्षितों को नायक ('हीरो') बनाया गया है। इस प्रकार के साहित्य में जन-समूह की आशा-आकांक्षा अत्यन्त उद्वेग के साथ प्रकाशित हुई है। इसे हम 'जन-साहित्य' कहते हैं। साहित्य और जीवन के जिस अनिवार्य सम्बन्ध को हम इतना महत्त्व देते है उससे आगे बढ़ कर यहाँ जीवन ही साहित्य बन जाता है। वह जीवन भी एक वर्ग का। सामंतों, राजा-महाराजाओं या धनीमानी मध्यवित वर्ग का जीवन उपेक्षणीय और प्रतिक्रियावादी बता कर छोड़ दिया जाता है।

'जनता का साहित्य', 'प्रोलेतरेत साहित्य'—यह आज की आवाज है। इस साहित्य के विषय क्या हों, प्रेरणा क्या हो, रूपरंग क्या हो, इस विषय में सभी में मतैक्य नहीं है। अ० भा० प्रगतिशील लेखक-संघ (१९३८) के घोषणापत्र में नये जन-साहित्य (प्रगतिशील साहित्य) की रूपरेखाएँ गढ़ने का प्रयत्न किया गया है—

"भारतीय समाज में आमूल परिवर्तन हो रहे हैं। यद्यपि प्रतिक्रिया की भावना में अब जीवन के तत्त्व अवशिष्ट नहीं हैं और उसका विनाश अन्ततोगत्वा अवश्यम्भावी है तथापि वह अब भी क्रियाशील है और अपने को बनाए रखने के लिये एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रही है। जब से प्राचीन

संस्कृति का अंत हुआ है तब से भारतीय साहित्य में जीवन के यथार्थों से भागने की घातक प्रवृत्ति ने जड़ जमा ली है। उसने यथार्थों से भाग कर निराधार अध्यात्म और कोरी आदर्शवादिता में जाकर शरण लेने का प्रयत्न किया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उसका शरीर और उसकी आत्मा निर्जीव हो गई है और उसने एक जड़ कलावादिता तथा जीवन के प्रति एक ऐसे दृष्टिकोण को अपना लिया है जो पुरोगामी और पतनोन्मुख है।

प्रत्येक भारतीय लेखक का कर्तव्य है कि वह भारतीय जीवन में होने वाले परिवर्तनों को अभिव्यक्ति दे और साहित्य में वैज्ञानिक बुद्धिवाद का समावेश करके देश में क्राँति की भावना के विकास में सहायता पहुँचाये। उन्हें साहित्य-समीक्षा के एक ऐसे दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए जो परिवार, धर्म, काम, युद्ध और समाज के प्रश्नों पर सामान्यत: प्रतिक्रिया-शील और पुराणपंथी प्रवृत्तियों का विरोध करे। उन्हें ऐसी साहित्यिक प्रवृत्तियों का विरोध करना चाहिए जो साम्प्रदायिकता, जाति-द्वेष तथा मनुष्य के शोषण की भावना को प्रतिबिम्बित करती हों।

हमारे संघ का उद्देश्य साहित्य तथा अन्य कलाओं को जो अब तक रूढ़िपंथी वर्गों के हाथ में पड़ कर निर्जीव होती जा रही हैं, उनको शुद्ध करा के, उनका निकटतम सम्बन्ध जनता में कराना और उन्हें जीवन के यथार्थों की अभिव्यक्ति का माध्यम और नये विश्व का निर्माण करने वाली शक्ति बनाना है।

भारतीय संस्कृति की सर्वश्रेष्ठ परम्पराओं के उत्तराधिकारी होने के कारण देश में फैली हुई प्रतिक्रिया की प्रत्येक भावना की आलोचना करना हमारा कर्तव्य है। और हम रचनात्मक तथा विवेचनात्मक साहित्य के माध्यम से उन सभी शक्तियों को बल प्रदान करेंगे जो हमारे देश को उस नये जीवन की ओर ले जायेंगी जिसके लिए वह संघर्ष कर रहा है। हमारा

विश्वास है कि नये भारतीय साहित्य को हमारे दैनंदिन जीवन की आधारभूत समस्याओं भूख और विपन्नता, पुराणपंथी सामाजिकता और राजनैतिक परतंत्रता का चित्रण करना चाहिये। जो कुछ भी हम में उदासीनता, निष्क्रियता और विवेकहीनता उत्पन्न करता है, उसे हम प्रतिक्रियाशील समझते हैं और उसका प्रतिवाद करते हैं; जो कुछ भी हममें एक आलोचक की वह स्वस्थ जिज्ञासा उत्पन्न करता है, जो संस्थाओं और प्रचलित रीतिरिवाजों को विवेक की रोशनी में देखती है और हमें अपने कार्य में, अपने को संगठित करने में, परिवर्तन लाने में सहायता पहुँचाती है, उसे हम प्रगतिशील समझते हैं और स्वीकार करते हैं।" ऊपर जो विवेचन उद्धृत किया गया है, उससे स्पष्ट है कि नये साहित्य की पुकार के अर्थ है—

(१) किसानों, मज़दूरों, हरिजनों, शोषितों और पीड़ितों की समस्याओं का विवेचन और उस विवेचन के आधार पर क्रान्ति-मूलक प्रगतिशील साहित्य की रचना

(२) इस नये साहित्य के नये कला-मूल्यों का सृजन

(३) प्राचीन साहित्य के सभी उपयोगी तत्त्वों का इस नये साहित्य में समावेश

(४) मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों (तृष्णा, अन्न, काम इत्यादि) की नैसर्गिक स्वतंत्रता की घोषणा इस नये साहित्य के माध्यम से

(५) उदासीनता, निष्क्रियता और विवेकहीनता के विरुद्ध जिहाद

(६) जाति, वर्ग, देश से ऊपर उठकर व्यापक विश्व को लेकर मौलिक दृष्टिकोण की सृष्टि।

सच तो यह है कि अभी तक हम साहित्य, कविता और कला को एक अत्यंत संकीर्ण दृष्टिकोण से परखते रहे हैं। मध्ययुग के अन्त तक का हमारा साहित्य सामंत राजा-महाराजा, अमीर और वर्ग-विशेष को ही सामने रखकर लिखा गया। इस साहित्य ने जन-मन तैयार नहीं किया।

मशीन-युग ने नया बुर्जुआ वर्ग खड़ा किया। उसने सामंतवाद और धर्मवाद से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और अनेक प्रगतिशील तत्त्वों का समावेश किया। परन्तु मशीन-युग के आरम्भ के कवि और लेखक नये बुर्जुआ वर्ग से बाहर नहीं निकल सके। धीरे-धीरे साहित्य का नेतृत्व उनके हाथ से निकल गया और नया मज़दूर-वर्ग इसका नेता बना। परन्तु यह वर्ग साहित्य-सम्बन्धी अपनी धारणाओं का स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सका है और न युग-युग से चले आते जन-गीतों और जन-कथाओं को ही अपनी नई कला का आधार बना सका है। परन्तु यह निश्चित है कि आज के साहित्य में जीवन की पुकार बहुत तीव्र स्वरों में उठी है और उसे अस्वीकार करना असम्भव है। जैसे-जैसे हम युगों-युगों से चली आती जन-संस्कृति को समझते जायेंगे, वैसे-वैसे हम जन-साहित्य की ओर बढ़ते चलेंगे।

महादेवी का काव्य

महादेवी के काव्य की विशेषताओं को भली भाँति समझने के लिए उसे अपने युग और अपने साहित्य की वीथिका में रखना होगा। अपनी भूमिकाओं और विवेचनाओं में महादेवी ने इनका उल्लेख किया है, परन्तु इन पर विस्तारपूर्वक लिखा जा सकता है। वास्तव में महादेवी की कविता उस 'छायावाद' की कविता का सर्वश्रेष्ठ विकास है जिसके जन्म और विकास का समय १६०६-१६३६ तक माना जा सकता है। १६३६ के बाद हिन्दी काव्य में नई शक्तियाँ आईं। साहित्य में यथार्थवाद का प्रवेश हुआ और राजनीति में समाजवाद और साम्यवाद की पुकारें उठने लगीं। 'दीपशिखा' १६४२ में प्रकाशित हुई है। उसकी कविताओं का रचनाकाल १६३६-४२ है। परन्तु उसकी भूमिका से यह स्पष्ट है कि महादेवी इसे युग-धारा की वस्तु नहीं समझतीं। वे जैसे हिचक रही हों। 'नवीन प्रभात के वैतालिकों के स्वर के साथ इसका स्थान रहे ऐसी कामना नहीं'—वह यह कह रही हैं। यथार्थवाद के प्रति उनका व्यंग अनेक पंक्तियों से स्पष्ट है—"आज का यथार्थवाद बुद्धि और साम्यवाद का ऐसा पुत्र है जिसके आविर्भाव के साथ ही आलोचक जन्मकुंडली बना-बना कर उसके चक्रवर्तित्व की घोषणा में व्यस्त हो गये। स्वयं उसके जीवन और विकास के लिये कैसे वायुमंडल, कैसी धूपछाया और कितने नीर-क्षीर की आवश्यकता होगी, इसकी उन्हें चिंता नहीं।" "यह युग यथार्थवादी है अतः जीवन के स्पंदन के बिना उसका यथार्थ इतना शीतल हो उठता है कि अश्लील उत्तेजनाओं से

उसमें कृत्रिम उष्णता भरी जाती है।" "पिछली दुःख-रागिनी का वायु-मंडल और आज की दुःखकथा का धरातल भी ध्यान देने योग्य है। वाह्य संसार की कठोर सीमाओं और अंतर्जगत की अनुभूति ने इस दुःख को एक अन्तर्मुखी स्थिति दे दी थी। × × आज के दुःख का सम्बन्ध जीवन के स्थूल धरातल की विषमता से रहता है अतः समष्टि के आर्थिक आधार पर वाह्य समाज के जीवन को बहुत सच्चाई व्यक्त करता तो शुद्ध सिद्धांतवाद के स्थान में सजीवता और स्भाविकता रहती × × "। "केवल बौद्धिक चेतना के कारण यथार्थोन्मुख कवि ने उस पीड़ित जीवन के मानचित्र और विकृतियों की रेखागणित लेकर ही कार्य आरम्भ किया था। जैसे-जैसे यह साधन अधिक पटु और कम सहृदय व्यक्तियों के हाथ में पड़ते जाते हैं वैसे-वैसे अपने संकेत और सार्थकता खोते जाते हैं। दलित की सुनी-सुनाई शोक-कथा का जैसा प्रदर्शन होता है वह आँसुओं के अभाव और शरीर के व्यायाम से भरे-पुरे स्यापे से निकट आता जा रहा है जिसमें मृतक का गुण गा-गा उसकी परोक्ष अत्मा को शोकांजलि दी जाती है।" "यथार्थ-वाद के पास दलितवर्ग को छोड़ कर जो एक और चिरन्तन विषय रह जाता है वह है नारी। पिछला युग इसे बादल, तारे, संध्या के रंग आदि से छिपा आया था, अतः यथार्थ ने छायाग्रही बन कर उसे धूल में खींच ही नहीं लिया, वरन् वह जीवन के सब स्तर दूर करके उसके कंकाल की नाप-जोख करना चाहता है। × ×" महादेवी के उपर्युक्त कथन के अनुसार यथार्थवादो (प्रगतिवादी) काव्य की विशेषताएँ हैं :',

(१) बौद्धिकता का आधिक्य

(२) साम्यवाद

(३) अश्लील उत्तेजनाएँ

(४) भौतिक जीवन की विषमता पर दुःख और उसके आर्थिक आधार का निराकरण

(५) सिद्धांतवाद

(६) कृत्रिमता और अनुभूतिहीनता

(७) दलितों, शोषितों और नारी-जीवन के प्रति केवल मात्र व्यावहारिक दृष्टिकोण, परन्तु अपार सहानुभूति। नये काव्य की ये विशेषताएँ छायावाद के बिलकुल विपरीत हैं।

छायावादी कवि भौतिक जीवन के धरातल पर कम उतरता है। उसका बल है उसका स्वप्न, उसकी अनुभूति, नारी के प्रति उसका दैवी भाव और सार्वभौमिक करुण। दुःखी और पीड़ित उसे प्रिय हैं केवल उनके दुःख और पीड़ा के नाते। वह दुःख और पीड़ा के कारणों तक नहीं जाता। वह दुःख औरपीड़ा का स्तवगान करके रह जाता है। स्पष्ट है इस प्रकार के काव्य में सिद्धान्तवाद और बौद्धिकता का प्रभाव होगा। वास्तव में छायावाद का युग १९३६ तक समाप्त हो जाता है, परन्तु नई प्रवृत्तियों के जन्म और विकास में समय लगता है। १९३६—१९४२ यही संधिकाल है। इस समय काव्य की आदर्शोन्मुख और यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों में द्वन्द्व चल रहा है।

इन पच्चीस वर्षों (१९०९—३६) के हम दो भाग कर सकते हैं। १९२५ में 'आँसू' का प्रकाशन हुआ और यही वर्ष विभाजन-रेखा है। सोलह वर्षों के इस समय में नए काव्य को अनेक प्रयोग करने पड़े और भाषा, शैली, और अभिव्यंजना के नये-नये रूपों की खोज करनी पड़ी। 'इन्दु' (११०९—१६) और 'सरस्वती' (१९००) की पुरानी फ़ाइलें इसका प्रमाण हैं। १९२५—२६ तक इस काव्य की रूपरेखा स्थिर हो चुकी थी। पुस्तक-रूप जो नया काव्य प्रकाशित हुआ था, उसके कई पक्ष थे—

(क) प्रेमाख्यान— इसकी प्रमुख रचनाएँ थीं जयशंकर प्रसाद का 'प्रेमपथिक' (१९१३), हरिप्रसाद द्विवेदी 'वियोगी हरि' कृत 'प्रेम-

पथिक' (१९१८), रामनरेश त्रिपाठी के काव्य 'मिलन' (१९१८) और 'पथिक' (१९२०) और सुमित्रानंदन पंत की 'ग्रंथि' (१९१६)

(ख) उच्छ्वासपूर्ण भावना-प्रधान कविताएँ—इनमें प्रमुख हैं मन्नन द्विवेदी का 'प्रेम' (१९१५), सुमित्रानन्दन पंत का 'उच्छ्वास' (१९२२) और जयशंकर प्रसाद का 'आँसू' (१९२५)

(ग) रहस्यवाद की कविता—इसकी प्रमुख रचनाएँ हैं—जयशंकर प्रसाद के 'कानन-कुसुम'(१९१३) और 'चित्राधार' (१९१८),लोचन प्रसाद शर्मा का 'प्रवासी' (१९१४), मुकुटधर पांडेय का 'पूजाफूल' (१९१६), ईश्वरी प्रसाद वर्मा का 'सौरभ' (१९२१), निराला की 'अनामिका' (१९२३), रूपनारायण पांडेय का 'पराग' (१९२४), मोहनलाल महतो का 'निर्माल्य' (१९२६) और रामनाथ सुमन का 'विपंची' (१९२६) । रचनाओं की इस तालिका से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार की रचनायें महादेवी ने हमें दी हैं, उस प्रकार की कुछ रचनाएँ पहले भी लिखी जा चुकी थीं । मुकुटधर पांडेय, मोहनलाल मेहतो, जयशंकर प्रसाद और सुमित्रानन्दन पंत की रचनाएँ लोकप्रिय भी हो चुकी थीं और छंद-चयन, भाषा और मूर्तिमत्ता की दृष्टि से महादेवी के प्रारम्भिक काव्य ('नीहार' और 'रश्मि) पर इनका प्रभाव है परन्तु महादेवी जैसी जिज्ञासा और उन जैसी एकांत-निष्ठा अन्य किसी में नहीं है । 'आँसू', 'वीणा' और 'पल्लव' के प्रकाशन के बाद इस नई काव्यधारा मे स्थायित्व आ गया था ।

तभी महादेवी ने काव्यक्षेत्र में प्रवेश किया और शीघ्र ही उन्होंने अग्रजों में स्थान ले लिया । अगले दस वर्षों में उन्होंने अपनी गीति-कला को इतना विकसित कर लिया कि उनके गीत संसार के सर्व-श्रेष्ठ गीतों के सम्मुख रखे जा सकते हैं । 'नीहार' (१९३०), 'रश्मि' (१९३२), ('नीरजा' (१९३५) और 'सांध्यगीत' (१९३६) में उनकी रहस्यवादी भावना और उनके कवि-व्यक्तित्व का निरन्तर विकास होता गया है । इन

वर्षों में प्रसाद, पंत और निराला का भी सर्व-श्रेष्ठ काव्य हमारे सामने आता है। इनमें प्रसाद के काव्य में विविध विषयों का इतना वैभव नहीं है। महादेवी की रचना की तरह वह भी बहुत कुछ एकान्तिक और स्वयंनिष्ठ है। पंत और निराला का विषय-वैभव, उनकी कला का प्रसार और उनके प्रयोग अनन्त हैं। परन्तु महादेवी की अपनी अकेली साधना है। चुने हुए छन्दों में, कुछ अत्यन्त सार्थिक संगीत-प्राण शब्दों को लेकर कल्पना, अनुभूति और विचार का जो प्रासाद उन्होंने खड़ा किया है, वह युगों-युगों तक प्रकाशस्तम्भ बना रहेगा। धर्म के भीतर से नहीं, कवि की अंतर्दृष्टि और नारी की एकांत साधना के भीतर से उन्होंने प्रकृति और मनुष्य से परे परन्तु इन्हीं में व्याप्त अखंड, अपरिच्छिन्न, असीम चिन्मय सत्ता को देखा है। इसीलिए उनका काव्य सब से अलग, सबसे अधिक व्यक्तिगत, सब से अधिक एकांतनिष्ठ है। उसकी अपनी सीमायें हैं, परन्तु अपनी सीमाओं के भीतर वह अपराजेय है। महादेवी की ये ३००--४०० कविताएँ एक ही सूत्र में पिरोयी अनेक हीरक-मणियों की तरह सतत भास्वर हैं।

१९ वीं शताब्दी के अंत होते-होते हिन्दी प्रदेश बँगला काव्य से परिचित हो चुका था। माइकेल, विहारीलाल, हेमचन्द्र और रवीन्द्रनाथ हिन्दी प्रदेश में भी पहुँचे। इनमें रवीद्र नाथ ठाकुर की कविता पर अँग्रेजी स्वच्छन्दतावाद, उपनिषदों के रहस्यवाद, बंगाली भावुकता और वैष्णव भक्ति का प्रभाव था। १९१३ के आसपास के उनके काव्य के अनुकरण से ये प्रभाव भी हिंदी में आ गये। परन्तु रवीन्द्रनाथ ने अकेले छायावाद काव्य को जन्म दिया, यह कहना अत्युक्ति होगी। १९०० ई० के बाद से 'सरस्वती' में कीट्स, शैली, वर्ड्सवर्थ, ब्लेक आदि रोमांटिक कवियों के अनुवाद प्रकाशित होने लगे थे। इन अनुवादों ने अनुवाद-कर्त्ताओं और लेखकों को प्रभावित किया। दूसरे, अँग्रेजी की उच्च कक्षाओं में रोमांटिक काव्य पढ़ाया जाने लगा था और हिंदी के नये कवि उससे अपरिचित नहीं रह सके। पंत द्वारा अँग्रेज़ी रोमांटिक काव्य का प्रभाव मुख्य रूप से

हिंदी में आया। 'पंत' और 'निराला' दोनों रवीन्द्र के काव्य से प्रभावित हैं। पंत के 'पल्लव' और निराला की कितनी ही कविताओं में रवीन्द्र के स्वर बोल रहे हैं। निराला ने विवेकानंद के अद्वैत भक्ति के काव्य से भी स्फूर्ति ली। प्रसाद ने रवीन्द्र की 'गीतांजलि' के प्रभाव को ग्रहण किया। 'झरना' की कविताएँ इसका उदाहरण हैं। परन्तु उन्होंने इस प्रभाव को शीघ्र ही छोड़ दिया। उर्दू काव्य की व्यंजना-शैली और भावुकता एवं संस्कृत मुक्तकों एवं आचार्यों की स्थापना से इंगित लेकर उन्होंने अपने लिए एक विशिष्ट काव्य-शैली का निर्माण किया। केवल एक दशक १९१०-२० के भीतर हिंदी काव्य में महान् क्रान्ति हो गई है। जिन लोगों ने इसका सूत्रपात किया वे बँगला या अँग्रेज़ी के पंडित थे। जितनी शीघ्रता से यह क्रान्ति हुई उसका उदाहरण देश की कविता के इतिहास में मिलना असम्भव है। इस क्रान्ति के कारण पाठक कवियों से बहुत पीछे रह गये। उन्होंने कवि पर अस्पष्टता, छायात्मकता, अनैतिकता, पाश्चात्य काव्य-साहित्य का अनुकरण, रवीन्द्र की जूठन—सौ तरह के आक्षेप लगाये। कवि सौन्दर्योन्मुख था। वह लापरवाही से गाता गया। इस अहंता भाव ने पाठक-कवि का विरोध बढ़ाया। लगभग एक दशक तक यह विरोध चलता रहा। १९३० के लगभग साधारण जनता में ये छायावादी कवि लोकप्रिय हो चुके थे और समीक्षकों ने उनके काव्य में सौन्दर्य का पता लगा लिया था। १९३५—३६ तक हिन्दी काव्य-जगत पर छायावाद का राज रहा। इसके बाद धीरे-धीरे उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया ने जन्म लिया और प्रगतिवाद नाम की नई धारा प्रकाश में आई। छायावाद के कुछ अग्रगण्य कवि—पंत, निराला, भगवतीचरण—इसके नेता बने।

तो यह स्पष्ट है कि महादेवी के आने से बहुत पहले उनके काव्य की भूमि लोकप्रिय हो चली थी। रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' का व्यापक प्रभाव हिंदी कविता ने ग्रहण कर लिया था और उसके अज्ञात सत्ता के प्रति प्रणतिभाव के गीत पत्र-पत्रिकाओं के अग्रपृष्ठ पर छप रहे थे। महादेवी

ने रहस्यवाद की ओर एकांतनिष्ठा दिखलाई और धीरे-धीरे अपने भाव-प्रकाशन को इतना व्यक्तिगत बना लिया कि छायावाद (या रहस्यवाद) के कवियों में उन्हें सहज ही अग्रस्थान प्राप्त हो गया है। परन्तु प्रारम्भ में उनकी कल्पनातिशयता उनकी लोकप्रियता में बाधक भी हुई। पाठकों ने उनकी अत्यन्त भावुक पंक्तियों को प्रलाप-मात्र समझ कर उनकी खिल्ली उड़ाई। कल्पना के इस लोक की बात कौन समझता ?—

चाहता है यह पागल प्यार।
अनोखा एक नया संसार!
कलियों में उच्छ्वास शून्य में तानें एक वितान,
तुहिन-कणों पर मृदु कंपन से सेज बिछा दें गान;
जहाँ सपने हों पहरेदार,
अनोखा एक नया संसार!
करते हों आलोक जहाँ बुझ-बुझ कर कोमल प्राण,
जलने में विश्राम जहाँ, मिटने में हो निर्वाण,
वेदना मधुमदिरा की धार,
अनोखा एक नया संसार।
मिल जावे उस पार क्षितिज के सीमा सीमा-हीन,
गर्वीले नक्षत्र धरा पर लोटें होकर दीन!
उदधि हो नभ का शयनागार,
अनोखा एक नया संसार।

इस भावुकता पर चिढ़ कर न जाने कितने पत्रों में व्यंगचित्र बने! तब कौन इसका रहस्य पा सकता था?

इन हीरक से तारों को
कर चूर बनाया प्याला,

पीड़ा का सार मिला कर
प्राणों का आसव ढ़ाला;
मलयानिल के झोकों में
अपना उपहार समेटे
मैं सूने तट पर आई
बिखरे उद्गार समेटे

जहाँ शब्दशब्द के अभिधार्थ से अधिक बता रहे हैं, या जहाँ अभिधार्थ का एकदम लोप कर उन्हें प्रतीकों के रूप में ग्रहण किया गया है—और प्रतीक भी एकदम नये, एकदम व्यक्तिगत—वहाँ काव्य कूट-काव्य नहीं बन जाता तो क्या बनता ? आज भी महादेवी वर्मा का सारा काव्य सब किसी के लिए सहज रूप से ग्राह्य नहीं है। पिछले १०-१२ वर्षों में पत्र-पत्रिकाओं में और पुस्तकों के रूप में उस पर काफ़ी लिखा जा चुका है। आज भी जब यह परिस्थिति है तब दो दशक पहले उनकी साधना को किस प्रकार पूर्णतः समझा जा सकता था।

और आज तो महादेवी वर्मा कला और साधना के उस कैलाश पर पहुँच गई हैं जहाँ साधना-साध्य एक हो जाते हैं, जहाँ स्वप्न ही काव्य बन जाता है और जहाँ से संगीत की मंदाकिनी अहर्निशि प्रवाहित होती रहती है। आज तो उनके इस सिद्धपीठ तक विरले ही पहुँच सकते हैं। हो सकता है, किसी अज्ञात सत्ता के विरह में तिल-तिल घुलना भ्रम-मात्र हो, यह भी सम्भव है अज्ञात किसी के पद-चाप की बात छलना हो। हो सकता है, भौतिक जगत पर अध्यात्म जगत की छाया हेत्वाभास मात्र हो। परन्तु यह निश्चय है कि युगों-युगों में कुछ अत्यंत प्रतिभाशाली व्यक्ति इस छल के शिकार होते रहे हैं, उनके लिए यह मृगतृष्णा ही जीवन की सबसे बड़ी साधना रही है। उनके स्वप्न सुन्दर हैं। आज भी उनकी भावुकता, उनकी विह्वलता, उनके सपने, उनका व्यक्तित्व, उनकी साधना, उनकी संगीत-लहरी—ये सब हमें प्रभावित करने में समर्थ

हैं। अविश्वास और वितृष्णा के इस युग में हम कहाँ तक उस स्वर्ग को अस्वीकार कर दें जो हमें प्राप्य नहीं है, परन्तु जिन्हें प्राप्य है उनकी साक्षी हमारे सामने है। आनन्द और अश्रु के तड़ित्-अक्षरों में यह साक्षी अस्वीकृत होना मानती ही नहीं।

इन सपनों ने नई भाषा, नई मूर्तिमत्ता, नए छंद, नए संगीत का रूप ग्रहण किया। प्रसाद के शब्दों में—"ये नवीन भाव आंतरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यंतर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों में व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिंदी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यंतर वर्णन के लिए प्रयुक्त की जाने लगी।" वस्तुतः काव्य के बाह्य रूपों में इतना परिवर्तन कभी नहीं हुआ था। परन्तु यह बाह्यांगों की क्रांति ही सम्पूर्ण क्रान्ति नहीं। यह तो एक व्यापक क्रांति की अंग थी। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस परिवर्तन ने महादेवी वर्मा के रहस्यवादी काव्य के लिए मार्ग तैयार किया। इस युग में कवि ने परम्परा से हट कर नई प्रकार की अनुभूति और नये विषयों के अनुरूप नई भाषा गढ़ी, नई मूर्तिमत्ता का प्रयोग किया, नये प्रतीक बनाये। सब कहीं वह सफल नहीं हुआ इसका कारण था। जिस रहस्य-भावना को वह रूप देना चाहता था, वह एकदम नई भाषा के बंधन में पूर्णतयः बँध नहीं पाती थी। वर्षों तक भाषा अक्षम रही। नए-नए छंदों और नई-नई प्रतीक-पद्धतियों का आश्रय कवि को लेना पड़ा। परन्तु जब वर्षों की साधना के बाद कवि को सफलता मिली, तब वह निश्चय ही अभूतपूर्व थी। इसीसे महादेवी वर्मा का काव्य सारे आधुनिक भारतीय काव्य में निराला है, अद्भुत है, परन्तु पूर्णतः मूलबद्ध है।

'पंत' का 'ज्योत्स्ना' नाटक

पंत के कवि-कर्म के दो निश्चित रूप हमारे सामने हैं। 'वीणा' (१६१८-२७), 'पल्लव' (१६२८) और 'गुंजन' में वह मुख्य रूप से सौन्दर्य-विलासी कवि हैं जो वाह्य प्रकृति के सहस्रों रूप-रंगों पर मुग्ध है और जिसने भाव और भाषा के क्षेत्र में माधुर्य की अप्रतिम साधना की है। 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' की कुछ कविताओं (आँसू, उच्छ्वास) में कवि अंतर्मुख नहीं है। वह बहिर्मुख ही अधिक है। उसने सौन्दर्य, प्रेम, मानव जीवन के उल्लास और आशावाद को ही अपने काव्य में बाँधा है। परवर्ती रचनाओं में भी यह कवि-रूप हमें मिलता है परन्तु वह विचारों के बोझ से बोझिल हो गया है।

वास्तव में पंत के काव्य का दूसरा रूप हमें 'ज्योत्स्ना' (१६३४) से मिलता है। इसे आलोचकों ने कवि के व्यक्तित्व का विस्फोट भी कहा है—तात्पर्य, यह ऐसी दिशा थी जिसकी कोई सूचना स्पष्ट रूप से कवि की पूर्ववर्ती रचनाओं से नहीं मिलती। यह ठीक है कि 'गुंजन' (१६३२) में मानव-कल्याण और आशावाद की झलक है और कवि अपने को उच्चादर्शों का प्रेमी और मानव के हर्ष-विमर्षों का कलाकार कहता है, परन्तु 'ज्योत्स्ना' से उसके काव्य में कवित्व का साथ 'संदेश' ने ले लिया है। वह नई मानवता, विश्वजनीनता और भौतिक-आध्यात्मिक समाहृत जीवन का दावेदार बन गया है। 'ज्योत्स्ना' में इस संदेश की रूप-रेखाएँ सूक्ष्म कल्पना और सौन्दर्य-निष्ठा

से रंग कर उतारी गई हैं—फलतः वह संदेश-प्रधान होने पर भी काव्य-भूमि पर सुन्दर बन पड़ी है। परन्तु 'युगांतर' (१६३४) में गाँधीवाद, 'युगवाणी' (१६३६) और 'ग्राम्या' (१६३७) में मार्क्सवाद और मार्क्सवादी-गाँधीवादी-अरविंदवादी (आध्यात्मिक) समीकरण के द्वारा कवि ने अपने युग की विषमताओं को बौद्धिक भूमि पर परखा है और उसके सामने स्पष्ट रूप से कुछ समाधान रखे हैं। इन रचनाओं में कविकर्म गौण हो गया है और संदेश ने प्रधानता पा ली है। काव्य-गुणों की उपेक्षा के कारण परवर्ती रचनाएँ हृदय की अपेक्षा बुद्धि को ही अधिक छूती हैं और इन कविताओं के कारण ही परवर्ती पंत विरोधी समीक्षाओं और लांछा के विषय बने हैं।

जो हो, यह स्पष्ट है कि १६३४ में 'ज्योत्स्ना' के प्रकाशन के साथ पंत का काव्य एक नई दिशा ग्रहण करता है। पंत का प्रारम्भिक काव्य शेली (P.B. Shelley) के काव्य से प्रभावित है। 'पल्लव' (१६२८) की कुछ कविताओं में यह प्रभाव स्पष्ट है। शेली एक ओर सौन्दर्यवादी कवि हैं, दूसरी ओर मानवतावादी। यह मानवतावाद उनकी 'द रिवोल्ट ऑव इस्लाम' नाम की लम्बी कविता और 'प्रामोथियस अन-बाउन्ड' नाम के रूपकात्मक पौराणिक नाटक (रूपक) में स्पष्ट रूप से सामने आता है। सम्भवतः इस दूसरी रचना ने ही पंत को 'ज्योत्स्ना' के रूप में एक काल्पनिक मनःस्वप्न के निर्माण की प्ररणा दी है। परन्तु नये उपकरणों और पंत की जीवन-दृष्टि की अपेक्षाकृत व्यापकता ने उसे और भी सुन्दर बना दिया है।

'ज्योत्स्ना' मनः-कल्प है। उसमें आधुनिक भौतिकवादी—वैज्ञानिक भित्ति पर आश्रित जीवन की परीक्षा की गई है और उसे एकांगी और मानवता के विकास में अक्षम बतलाया गया है। ज्योत्स्ना' ५ अंकों का छोटा-सा नाटक है। प्रत्येक अंक में एक दृश्य है। प्रारंभिक अंक में हम संध्या और छाया को मानव-संसार की छलनाओं और तामसिक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में बातचीत करता पाते हैं। संध्या छाया को सूचित करती है कि आज वसंत-

पूर्णिमा की रात को इन्दु अपने शासन की बागडोर वहू ज्योत्स्ना को देने वाला है, कि—'आज से संसार में आदर्श-साम्राज्य होगा। ज्योत्स्ना के जीवन का ध्येय विलास नहीं, प्रेम है। वह अपने साम्राज्य में स्नेह, सहानुभूति, सौन्दर्य आदि उन्नत भावनाओं का प्रसार करेगी।'—'वह (आदर्श साम्राज्य) मनुष्य के हृदय में नवीन कल्पना, नवीन उच्छ्वास, उसकी पलकों में नवीन सौन्दर्य, नवीन स्वप्नों की सृष्टि करेगा। पशुवृत्तियों से मनुष्य को ऊपर उठा कर उसके स्वभाव को मार्जित बनाएगा। चारों ओर स्नेह, सुख, सौन्दर्य, संगीत का सागर उमड़ उठेगा। एक शब्द में, संसार में स्वर्ग उतर आएगा। दूसरा अंक हमें इन्द्रलोक के अंतःपुर में पहुँचा देता है। इसमें ज्योत्स्ना इंदु के सामने अपना प्रस्ताव रखती है और उसकी आज्ञा पाकर किरणों के यान पर अंतरिक्ष पारकर पृथ्वी पर उतरने का उपक्रम करती है। तीसरे अंक में हम सम्राज्ञी ज्योत्स्ना के किरण-यान को मानसरोवर पर स्थित पवन-सुरभि द्वारा रक्षित नौका पर उतरता पाते हैं। यही उस नाटक का सब से महत्त्वपूर्ण अंक है। ज्योत्स्ना पवन और सुरभि से संसार की प्रगति का विशद समाचार जानना चाहती है और पवन के द्वारा भूतिवादी संसार की विषमताओं का चित्र पा कर उसका मन क्षुब्ध हो उठता है। इस अखंड पृथ्वी को राष्ट्रवाद ने खंड-खंड कर दिया है और विकासवाद, भौतिकवाद, विज्ञानवाद के रूप में न जाने कितना बुद्धि-विलास संसार के सुख-सौन्दर्य को प्रताड़ित कर रहा है। पवन बतलाता है कि एक ओर धर्मांधता, अंधविश्वास और जीर्ण रूढ़ियों से संग्राम चल रहा है, दूसरी ओर वैभव और शक्ति का मोह मनुष्य की छाती को लौह शृंखला की तरह जकड़े है। बुद्धि का अहंकार प्रखर त्रिशूल की तरह बढ़ कर मनुष्य के देवत्वप्रिय स्वभाव एवं आदर्शप्रिय हृदय को स्वार्थ की नोंक से छेद रहा है। इसी समय मृत्युलोक के दूत के रूप में झींगुर का कर्कश स्वर सुनाई देता है जो नई सभ्यता के शक्तिवादी दर्शन को सामने रखता है—

जो है समर्थ, जो शक्तिमान
जीने का है अधिकार उसे

उसकी लाठी का बैल विश्व,
पूजता सभ्य संसार उसे

उसके वेसुरे भयंकर आलाप को सुनकर ज्योत्स्ना उत्तेजित हो उठती है। यह स्थान नाटक की चरम सीमा (climax) है। ज्योत्स्ना पवन और सुरभि पर हाथ फेर कर उन्हें मूर्च्छित कर देती है और उनके सह मिलन से स्वप्न और कल्पना का जन्म होता है। स्वप्न और कल्पना मनुष्य जाति के मनः लोक में प्रविष्ट कर सूक्ष्म वायवी उपादानों से अनेक कोमल और स्वस्थ मानसी सृष्टियों को जन्म देते हैं। ये मानसी सृष्टियाँ हैं भक्ति, शक्ति, दया, सत्य, श्रेय, समतानुराग, साधना, धर्म, निष्काम कर्म, करुणा, ममता, स्नेह, क्षमा आदि आदि। इनके द्वारा मनुष्य काव्य, संगीत और शिल्प अर्थात् कला के क्षेत्र में नए मूल्यों की सृष्टि करता है और जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर अग्रसर होता है। धीरे-धीरे मानव-संसार में महान् क्रांति होती है और वह विश्व-बंधुत्व के प्रशस्त पथ पर आगे बढ़ता है। सारा भू-जीवन एकता के सूत्र में बँध जाता है। सारे मनुष्य एक विराट कुटुम्ब के प्राणी बन जाते हैं। अंतिम दृश्य में हम विभिन्न देशों और जातियों के विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक, कला और आचार सम्बन्धी भावनाओं के प्रतिरूप भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुषों को उपस्थित देखते हैं। वे नई मानव संस्कृति के सहयोग और प्रेमभाव के प्रतीक हैं। इस प्रकार नाटक के पहले अंक में जिस मंगलमय विश्व-जीवन की कल्पना की गई थी, उस की सिद्धि अंतिम अंक में सामने आती है।

नाटकीय दृष्टि से देखने पर 'ज्योत्सना' भाव प्रधान, कल्पना-मूलक, रूपक (प्रतीक नाटक) मात्र है जिसमें आधुनिक जगत की भौतिकवादी-विज्ञानवादी संस्कृति के विरोध को लेकर एक सुन्दर भाव-जगत की सृष्टि की गई और 'ज्योत्स्ना' के द्वारा कवि ने स्वयं अपने मनःस्वर्ग को पृथ्वी पर उतारा है। इस नाटक में प्रकृति के अनेक उपकरण (लहर, पवन, सुरभि, जुगनू,

तितलियाँ, कलि-कुसुम, छाया, उल्लू, झींगुर, लावा, अनेक प्रकार के देशी-विदेशी फूल, ओस, कोक-कोकी) भाव-मंच पर उपस्थित होते हैं और कवि की भावना के अनुसार पक्ष-विपक्ष ग्रहण करते हैं। पक्षियों में झींगुर आधुनिक भौतिक संस्कृति का संदेशवाहक है। चौथे अंक में हम छाया और उल्लू की परिहास-पूर्ण विदग्ध वार्ता से परिचय प्राप्त करते हैं। रंगमंचीय दृष्टि से यह अंक बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। इसमें तमस-प्रधान मानव-प्रवृत्तियों की पराजय और दैवी सम्पदा की विजय की सांकेतिक सूचना हमें मिलती है। वास्तव में इस नाटक में हम पृथ्वी-स्वर्ग, जड़-चेतन और मानव-अमानव को एक ही सूत्र में ग्रथित पाते हैं और पट भूमि की यह विशालता और व्यापकता नाटक को सार्वभौम रूप दे देती है। वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक अर्थ ग्रहण कर लेता है।

एक तरह से नाटक की भावभूमि काव्यात्मक होने पर भी उसकी रचना सिद्धांत की भूमि पर हुई है। इसी से उसमें नाटकीयत्व के स्थान पर संदेशत्व की प्रधानता है। इस दृष्टि से तीसरा अंक सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसमें नाटक-कार ने आधुनिक सभ्यता की सर्वांगपूर्ण और विशद समीक्षा उपस्थित की है। पहले दो अंक उसी के लिए हमें तैयार करते हैं। दूसरे अंक में ही 'ज्योत्स्ना' का दृष्टिकोण हमें मिल जाता है। वह इन्दु से कहती है—"मैं देख रही हूँ, नाथ ! मर्त्यलोक से मानवी भावनाएँ धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही हैं। प्रेम, विश्वास, सत्य, न्याय, सहयोग और ममत्व, जो मनुष्य-आत्मा के देवभोजन हैं, एकदम दुर्लभ हो गए हैं। पशुबल, घृणा, द्वेष और अहंकार सर्वत्र आधिपत्य जमाए हैं। अंधविश्वासों की घोर अंधनिशा में चारों ओर जाति भेद, वर्ण भेद, धर्म-भाषा भेद, देशाभिमान, वंशाभिमान, दानवों की तरह किमाकार रूप धर कर मानवता के जर्जर हृदय पर तांडव नृत्य कर रहे हैं। विश्व का विशाल आँगन, राष्ट्रवादों की व्योमचुम्बी भित्तियों से अनेक संकीर्ण काराओं में विभक्त हो गया है, जिनके शिखरों पर दिन रात, विनाश के बादल धुँआधार मँडरा रहे हैं। अर्थ और शक्ति के लोभ में पड़कर, संसार

की सभ्यता ने, मनुष्य जाति के उन्मूलन के लिए संहार की इतनी अधिक सामग्री शायद ही कभी एकत्रित की होगी। यह है आज की वस्तुस्थिति। इन्दु के कहने के अनुसार—'मनुष्य जाति के भाग्य का रथ-चक्र इस समय जड़वाद के गहरे पंक में धँस गया है।' इस परिस्थिति का समाधान है 'एक विराट विश्व संस्कृति' की योजना में। परन्तु इस संस्कृति के तत्त्व क्या हों? इसका रूप क्या हो? उसमें पिछले और समसामयिक युगों के उपकरण किस प्रकार ग्रहीत हों?

तीसरे अंक में हम इसी समाधान को पाते हैं। ज्योत्स्ना कहती है—

'असंख्य कोटि जीवों एवं मनुष्यों से मुक्त, वन-उपवन, मरु-उर्वर, पर्वत-समुद्रों से निर्मित यह पृथ्वी अपनी समस्त विभिन्नताओं के रहते हुए भी एक है। ये अभ्रभेदी पर्वत और दुस्तर समुद्र भी इसकी एकता को नष्ट नहीं कर सकते। जिस प्रकार यह बाहर से एक है, उसी प्रकार भीतर से भी एक आत्मा, एक मन, एक वाणी और एक विराट संस्कृति की आवश्यकता है...' आदि आदि। वास्तव में आज का सांस्कृतिक विघटन एक बड़ी समस्या है। उसके कई कारण हैं :

(१) जाति, वर्ण और अर्थ के आधार पर अनेक भेदों-प्रभेदों की सृष्टि।

(२) प्रकृति के अनियंत्रित रूप की अभ्यर्थना जो विकृति-मात्र है और जिसमें मानव-प्रकृति के द्वन्द्व को ही स्वाभाविक और सुन्दर मान लिया गया है।

(३) मानव-मनोजगत् की विशृंखलता।—'एक ओर धर्मान्धता, अंधविश्वास और जीर्ण रूढ़ियों से संग्राम चल रहा है; दूसरी ओर वैभव और शक्ति का मोह मनुष्य की छाती को लौह शृंखला की तरह जकड़े हुए हैं।'

(४) मानव का बुद्धि-विषयक अहंकार [बुद्धिवाद]

(५) अनेक 'वाद'। विकासवाद, जड़वाद, अर्थवाद, प्रकृतिवाद। विकास-

वाद ने धर्म और ईश्वर पर से मनुष्य का विश्वास उठा दिया है और जीवन के सहयोगपक्ष की अपेक्षा उसके संग्रामपक्ष पर ही अधिक बल दिया है। फलतः रात दिन द्वन्द्व-संघर्ष, वाद-विवाद, ईर्ष्या-कलह। जड़वाद ने इंद्रियों को ही प्रधान मान कर मनुष्य को इन्द्रियासक्त और भौतिक सुखाकांक्षी बना दिया है। अर्थवाद ने मनुष्य को दो बड़े वर्गों में बाँट दिया है—श्रम का उपभोगी वर्ग और श्रमजीवी। इन दोनों में स्वार्थों का संघर्ष है। एक नया वर्ग भी सामने आ रहा है जो अपने को प्रकृतिवादी कहता है और प्रकृति की अपार रूप-राशि में डूब कर आनन्दोपभोग की प्राप्ति करना चाहता है। इससे ऊँचा जीवन उसके लिए सम्भव है ही नहीं। 'ज्योत्स्ना' के लेखक का मंतव्य है कि मनुष्य को इस युग के अपूर्ण एकांगी बुद्धिवाद से ऊपर उठना पड़ेगा। उसे यह जान लेना होगा कि ज्ञान-विज्ञान से मनुष्य की अभिवृद्धि हो सकती है, उसका विकास नहीं हो सकता।—कि 'सरल, सुन्दर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रख कर ही मनुष्य-जाति सुख-शांति का उपभोग कर सकती है, पशु से देवता बन सकती है।' 'गुंजन' में भी कवि ने लिखा है—

विश्वास चाहिये रे मन
विश्वास अटल जीवन पर

इस प्रकार कवि बुद्धि के अतिवाद को विश्व संस्कृति के विकास में बाधा मान कर जीवन के भावुक सत्य और आदर्शों के सजीव अंगों की ओर प्रेरित होता है। उसके लिये आदर्श चिरन्तन सत्य है। वह तार्किक सत्य नहीं, अनुभावित सत्य है। मनुष्य ने अपने हृदय-स्वर्ण को तपा कर उनकी प्राप्ति की है। यही आदर्शों का सत्य आज उपेक्षित है। बुद्धि के कुठाराघात ने उसे आहत कर दिया है। कवि का कहना है कि हमें उसे पुनर्जीवित करना होगा। मनुष्य ने स्वप्न और कल्पना को निर्वासित कर दिया है। उन्हें फिर जीवन में वांछित स्थान देना होगा। मनुष्य रोटी से ही नहीं जीता। स्वप्न और कल्पना ही उसके 'खाद्य-मधु' हैं। इन्हीं के सहारे कवि ने मानवीय

सृष्टि में सूक्ष्म क्रान्ति की कल्पना की है। स्वप्न और कल्पना ही मनुष्य के अंतर्जगत में प्रवेश कर दैवी गुणों और स्वर्गीय मनोभावों की सृष्टि करते हैं। यहीं से नये मानव जीवन का जन्म होता है।

इसमें संदेह नहीं कि यह कवि का मनः-कल्प है। कुछ वर्षों बाद ही वह इस बात को समझ गया है और उसने स्वप्न के संसार से नीचे उतर कर अपने चिंतन को पृथ्वी की कठोर समतल भूमि पर प्रतिष्ठित किया। बाद में गांधीवाद, मार्क्सवाद, इन दोनों के समीकरण और अंत में इस समीकरण को अरविंदवाद (औपनैषदिक ब्रह्मवाद) से संयोजित कर उसने अपने मनः-कल्प को उपादेय बनाना चाहा है।

आचार्य शुक्ल जी के साहित्य-सिद्धान्त

शुक्ल जी के साहित्य-सिद्धान्त उनके निबन्धों,'इतिहास', रस-मीमांसा और तुलसी, सूर और जायसी-सम्बन्धी उनकी बृहद् समीक्षाओं में बिखरे हुए हैं। 'रस-मीमांसा' में उनका एक निश्चित रूप मिल जाता है। स्वयं शुक्ल जी ने इस पुस्तक की एक रूप-रेखा अपने मन में बनाई थी परन्तु वह केवल स्फुट और विशृंखलित सामग्री ही उपस्थित कर सके—उनकी मृत्यु के बाद प्रो० विश्वनाथ प्रसाद ने उस सामग्री को संकलित कर और उसमें निबन्धों की सामग्री समन्वित कर ग्रंथ को उपयोगी रूप दिया है। संक्षेप में, ये आधार हैं जिन्हें लेकर हम शुक्ल जी के साहित्य-सिद्धांतों की विवेचना कर सकते हैं।

शुक्ल जी के सामने आदि कवि बाल्मीकि से लेकर उनके अपने समय तक के काव्यविकास (छायावाद) की बृहद् सामग्री थी। उस सामग्री को किसी एक निश्चित तुला पर तौलना कठिन था—वह इतनी व्यापक और विभिन्न थी, परन्तु निष्ठावान् , अधिकारी समीक्षक के नाते उन्हें एक निश्चित मानदंड बना लेना था जिस पर सारी सामग्री परखी जा सके। साथ ही पश्चिम के सम्पूर्ण साहित्य-विकास को भी लेना था। फिर पूर्व और पश्चिम में साहित्य-क्षेत्र में अनेक 'वाद' थे, अनेक सिद्धान्त थे और उनमें से कुछ को स्वीकार करना और शेष को अस्वीकार करना था। स्वयं भारतीय समीक्षा कई मतवादों को लेकर चलती थी जिन्हें रसवाद, रीतिवाद (गुणवाद), अलंकारवाद, ध्वनिवाद, वृत्तिवाद और वक्रोक्तिवाद के नाम से अभिव्यंजित किया जा सकता

है। इनमें से प्रत्येक के विकास का लम्बा इतिहास है और समय-समय पर इनके एक विशिष्ट मतवाद में समन्वय का भी प्रयत्न किया गया है – अलंकारवादियों में मम्मट (काव्य प्रकाश) और ध्वनिवादियों में अभिनव गुप्त (ध्वन्यालोक) का प्रयत्न इसी प्रकार का प्रयत्न है। जहाँ पूर्व की यह दशा है वहाँ पश्चिम में भी काव्य के क्षेत्र में अनेक मतवाद विकसित हो गए थे। इन्हें कलावाद, अभिव्यंजनावाद,सौन्दर्यवाद, मूर्त्ति-विधानवाद (Imagism), संवेदनावाद (Impressionism), प्रतीकवाद (Symbolism), क्लासिसिज़्म (मर्यादावाद), रोमांटिसिज़्म (स्वच्छन्दतावाद), आदर्शवाद, यथार्थवाद, अंतश्चेतनावाद, व्यक्तिवाद, रहस्यवाद आदि नामों से अभिहित किया गया है। वादों के क्षेत्र में शुक्ल जी जहाँ १८-१९वीं शताब्दी के रहस्यवादी प्रतीकवाद, मुक्त-छंदवाद, कलावाद इत्यादि से परिचित थे, वहाँ बीसवीं शती के अभिव्यंजनावाद (Expressionism), जार्जकाल प्रवृत्ति (Georgianism), मूर्त्तिमत्तावाद (Imagism) संवेदनावाद (Impressionism) और नवीन मर्यादावाद (New Classicism) की भी उन्होंने विवेचना की है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उन्हें लगभग दो दर्जन साहित्य-दृष्टियों के बीच में से अपना रास्ता बनाना पड़ा है।

इसमें संदेह नहीं कि यह बड़ा कठिन काम था परन्तु शुक्ल जी की अभिरुचि और उनका तुलनात्मक साहित्यिक अध्ययन इस क्षेत्र में उनके मार्ग-प्रदर्शक बने। उन्होंने रसवाद को अपनी काव्य-समीक्षा की नींव के लिए स्वीकार किया। 'कविता क्या है' ? शीर्षक निबन्ध में उन्होंने अलंकार को चमत्कारवाद के अन्तर्गत माना है और उसे वहीं उपादेय माना है जहाँ वह रस-निष्पत्ति में सहायक हो। उनका कहना है—जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलंकार लाद कर सुन्दर नहीं हो सकती उसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव रूप नहीं खड़ा कर सकता। (कविता क्या है, पृ० १८४)। रीति (गुण) वृत्ति, वक्रोक्ति, अलंकार (शब्दालंकार) और ध्वनि (लक्षणा, व्यंजना) कविता की भाषा के अंग

हैं, परन्तु अलंकार और वक्रोक्ति कविता के भावपक्ष के लिए भी प्रमुख हो सकते हैं। वास्तव में काव्य के भावगत पक्ष दो हैं रस और चमत्कार। अलंकार और वक्रोक्ति-विधान चमत्कार-पक्ष का ही संयोजन करते हैं। शुक्ल जी का कहना है कि उच्च कोटि का काव्य रस-मूलक होता है और उसका चमत्कारक पक्ष रसवृद्धि में ही सहायक होता है। इस प्रकार रस अंगी है, अलंकार, वक्रोक्ति आदि अंग। रस काव्य के आभ्यन्तर से सम्बन्धित है, भाषा का पक्ष बहिरंगी है और उसमें रीति (गुण), (वृत्ति), वक्रोक्ति, शब्दालंकार और ध्वनि (लक्षण, व्यंजना) की योजना है। इस प्रकार शुक्ल जी रसवाद में अन्य 'वादों' का समाहार कर देते हैं।

रसास्वादन के सम्बन्ध में निष्पत्तिवाद (भरत मुनि), उत्पत्तिवाद (भट्ट लोल्लट), अनुमतिवाद (शंकुक), योगवाद (भट्ट नायक) और अभि-व्यक्तिवाद (अभिनवगुप्त) के रूप में अनेक विचार-सरणियाँ प्राचीन आचार्यों में मिलती हैं। शुक्ल जी रसबोध को समझाने के लिए 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया की विस्तृत व्याख्या उपस्थित करते हैं और रसात्मक बोध के विभिन्न रूपों को हमारे सामने लाते हैं। उनका कहना है कि रसात्मकबोध मूलतः रूप (Images) पर आश्रित है। रसात्मक बोध के मूल में तीन प्रकार के रूप-विधान रहते हैं :

१—प्रत्यक्ष रूप-विधान

२—स्मृत रूप-विधान

३—कल्पित रूप-विधान

परन्तु रसात्मक अनुभूति इन पर आश्रित होते हुए भी इनसे भिन्न है। 'रस-दशा में श्रोता की अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य के प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से संबद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योग क्षेमवासना की उपाधि से ग्रस्त भावना द्वारा ग्रहण नहीं करते, बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं। इसी को पाश्चात्य

समीक्षा पद्धति में अहं का विसर्जन और निःसंगता (Impersonality and Detachment) कहते हैं। इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व कहिए, चाहे विभावन-व्यापार का अलौकिकत्व।' (रसात्मक बोध के विविध रूप, पृ० २४७)

वह काव्य में साधारणीकरण को ही महत्त्व देते हैं और उसमें रस की प्रधानता मानते हैं। यह भारतीय दृष्टि है। व्यक्ति-वैचित्र्यवाद (शील वैचित्र्य या अंतः-प्रकृति-वैचित्र्य) दृश्यकाव्य (नाटक) और उपन्यास-कहानी का विषय है। रससृष्टि से उसका विरोध है। प्रबंध काव्य में शील-निरूपण का स्थान है परन्तु वह वैचित्र्य-प्रधान न होकर रस मूलक हों। रस-प्रकृति के सम्बन्ध में शुक्ल जी भरत के निष्पत्तिवाद (स्थायीवाद, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रससिद्धि) को ही मानते दिखलाई पड़ते हैं।

परन्तु निष्पत्तिवाद को स्वीकार करने में कुछ कठिनाइयाँ थीं। भरत का सिद्धांत दृश्य-काव्य की भूमि पर ही ठीक उतरता है। उसमें 'आश्रय' (नायक-नायिकादि) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। फिर रस की निष्पत्ति के लिए चारों अंगों का उपस्थित होना आवश्यक है। प्रबंध काव्य के लिए तो यह आयोजन ठीक है परन्तु प्रगीति और मुक्तक के लिए कोई समाधान चाहिये। शुक्ल जी ने रसवाद की नई व्याख्या उपस्थित की जो प्रगीतों और मुक्तकों पर पूरी उतरती है। वह आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में समर्थ मानते हैं। 'जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलम्बन होती है, उसका शब्द चित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। उसके लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह 'आश्रय' की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ, हर्ष से नाचता हुआ, या विषाद से रोता हुआ दिखावे।' (काव्य में प्रकृति चित्रण) । इस प्रकार वह काव्य में विभाव-मात्र को

प्रधानता देते हैं। जहाँ विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट भाव निश्चित रूप से सम्भव है, परन्तु भाव की अनुभूति भी बहुत कुछ रसानुभूति का स्थान ले सकती है। शुक्ल जी का कहना है कि 'नायिका भेद', 'नखशिख', 'प्रकृति वर्णन' के मुक्तकादि इसी प्रकार हमें रससिक्त करते हैं। वह समझते हैं कि शास्त्राग्रही कदाचित् इसे सम्पूर्ण रसानुभूति नहीं मानेंगे, वे उसे 'भावानुभूति' ही कहेंगे। शुक्ल जी इस भावानुभूति को रस-कोटि की ही समझते हैं और उसे 'रस' का नाम दिया ही जाये, इस पर आग्रह नहीं करते।

रस के मूलाधार स्थायीभाव हैं। रसवाद को वैज्ञानिक भित्ति देने के लिए शुक्ल जी ने अपने मनोवैज्ञानिक निबन्धों में उनकी विशद छानबीन उपस्थित की है। उत्साह (वीर) श्रद्धा-भक्ति (भक्ति), लोभ, प्रीति, घृणा, ईर्ष्या (श्रृंगार), लज्जा और ग्लानि (श्रृंगार, करुणा), भय (भयानक) क्रोध (रौद्र) भावों को उन्होंने विस्तारपूर्वक विश्लेषित किया है। स्थान-स्थान पर रसों, भावों और अलंकारों की प्रचलित योजना के सम्बन्ध में उन्होंने सूक्ष्म स्थापनाएँ उपस्थित की हैं। इस प्रकार उनकी रस-सम्बन्धी विवेचनाएँ मूलबद्ध और काव्योपयोगी हैं। प्राचीन आचार्यों की रस-विवेचना नाटकों पर आधारित है, काव्यगत रस-दृष्टि उनमें विकसित नहीं हो सकी है। शुक्ल जी ने उसे प्रबंध और मुक्तक दोनों प्रकार के काव्य भेदों के लिए उपयोगी बनाने की चेष्टा की है।

शुक्ल जी पश्चिमी 'वादों' में से कलावाद (कला-कला के लिए) अभिव्यंजनावाद (Expressionism) व्यक्तिवाद, रहस्यवादी प्रतीकवाद (Symbolism or Decadence), मुक्तछंदवाद, जार्जकाल प्रवृत्ति (Georgianism) और नवीन मर्यादावाद (New Classicism) की विशद विवेचना उपस्थित करते हैं (रस मीमांसा ३२३—३३५)। 'कलावाद' और व्यक्तिवाद के तो वह निश्चित ही विरोधी हैं। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को वह प्राचीन वक्रोक्ति मतवाद के समकक्ष ही रखते हैं और उसकी एकांगिता का विवेचन करते हैं। अन्य 'वाद' उन्हें एकांगी लगते हैं और वे हिन्दी के कवियों को

'वादों' की भूमि से ऊपर उठने के लिए आग्रह करते हैं। पश्चिमी समीक्षकों में वे रिचर्ड की मान्यताओं में ही सबसे अधिक सहमत जान पड़ते हैं। रिचर्ड्स (I. A. Richards) काव्य और जीवन की अनुभूति में भेद नहीं करते। उनका कहना है—

There is no such gulf between poetry and life as our literary persons sometime suppose. There is no gap between our every-day emotional life and the material of poetry. The verbal expression of life, at its finest, is forced to use the technique of poetry × × If we do not live in consonance with good poetry, we must live in consonance with bad poetry. I do not see how we can avoid the conclusion that a general insensitivity to poetry does witness a low level of general imaginative life. (Practical Criticism)

इस कथन के अनुसार सामान्य जीवनानुभूति ही कवि द्वारा शब्दों में बँधकर काव्यानुभूति बन जाती है। उसके मूलाधार सामान्य मानव-भाव ही हैं। अतः भावों की भूमि पर ही उसकी परीक्षा सम्भव है। शुक्ल जी भी काव्य को रहस्यात्मक अथवा अलौकिक प्रक्रिया नहीं मानते। मानव की साधारण भावभूमि ही उनके लिए काव्यभूमि है। रिचर्ड्स की भाँति ही वे प्रभाववादी आलोचना (Romantic or Impressionalist Criticism) को अधिक महत्ता देने के लिए तैयार नहीं। (काव्य में अभिव्यंजनावाद : पृ० २१०-२११) उन्होंने रिचर्ड्स के भाव-गत और भाषा-गत वैशिष्ट्य से बहुत बार अपनी सहमति प्रगट की है। उन्होंने लिखा है कि रिचर्ड्स योरपीय साहित्य में समीक्षा के नाम पर फैलाए हुए बहुत से अर्थ-

शून्य वाग्जाल को हटा कर शुद्ध विवेचनात्मक समीक्षा का रास्ता निकाल रहे हैं। उनके शब्द-शक्ति निरूपण को उन्होंने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना की तुला पर तौला है। वास्तव में दोनों समीक्षकों की रुचि और विश्लेषणात्मक प्रतिभा एवं नैतिक, जीवनपरक मूल्यों में साम्य है।

यह तो हुई सामान्य विवेचना। अब हमें देखना यह है कि शुक्ल जी काव्य समीक्षा में क्या नई स्थापनाएँ लाते हैं। वास्तव में जहाँ तक सामान्य रस-दृष्टि का सम्बन्ध है, वहाँ तक शुक्ल जी से मतभेद नहीं हो सकता। परन्तु ये नई स्थापनाएँ रुचि पर आधारित होने के कारण निर्भ्रांत नहीं हैं। शुक्ल जी की ये नई मान्यताएँ इस प्रकार हैं :

१—काव्य के दो भेद किए जा सकते हैं : (i) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाला काव्य जिसमें वे रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपाल वध, किरातार्जुनीय और हिंदी में हमीररासो, पृथ्वीराज रासो, छत्र प्रकाश, (प्रबंध काव्य), भूषण आदि के वीररसात्मक मुक्तक और वीर गाथात्मक काव्य रखते हैं। (ii) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाला काव्य जिसमें उन्हें आर्या सप्तशती, गाथा, अमरुक, गीतगोविंद, शृंगाररस के मुक्तकों, सूरसागर, कृष्णकाव्य, विहारी-सतसई, रासपंचाध्यायी और रीतिकाल के कवियों के फुटकर शृंगार पद्यों को रखा है। पहले में वे सत्-असत् के द्वन्द्व को देखते हैं, दूसरे में भावुक काव्यानन्द मात्र को जो माधुर्य दीप्ति, उल्लास, प्रेमक्रीड़ा आदि को लेकर चलता है। थियोडोर वाट्स डंटन को उद्धृत कर उन्होंने इसे शक्ति काव्य (The Poetry of Power) माना है और दूसरे प्रकार के काव्य को कलाकाव्य (The Poetry of Art)। पहली श्रेणी के काव्य को श्रेष्ठतर मानते हैं। उनका कहना है—'ये ही पूर्ण कवि हैं, क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर ये सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं।' (काव्य में लोकमंगल की साधना, पृ० २१५)

इस विचार-भूमि पर चलते हुए वे काव्य में मंगल-विधान को श्रेय देते हैं और केवल कलावाद का विरोध करते हैं। मंगल-विधान के लिए काव्य में करुणा और प्रेम की योजना आवश्यक है परन्तु यह प्रेम एकांतिक नहीं हो, वह लोकपक्ष की भूमि पर विकसित हो। 'मानस' में उन्होंने करुणा और प्रेम का यही लोक मंगल-विधायक रूप देखा है। इसी विचार-भूमि के कारण प्रबंध काव्य की अपेक्षा मुक्तक और प्रगीति काव्य उन्हें छोटा जान पड़ता है। मुक्तक और प्रगीति में कवि की वैयक्तिक अनुभूति ही प्रधान रहती है, उनमें लोक-मंगल की प्रेरणा बहुत दूर तक सम्भव नहीं है।

२—विशुद्ध काव्य दृष्टि से भी वह प्रबंध को मुक्तक से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उसमें मानव की चित्तवृत्तियों के प्रसार का अधिक अवकाश है। उसमें कथा-सौष्ठव, शीलनिरूपण, मर्मपूर्ण प्रसंग, रस और अलंकार की योजना, धर्म और दर्शन के गम्भीर चिंतन को स्थान मिलता है। कवि की भाषा की परीक्षा भी वहाँ हो जाती है। फलतः वह मुक्तक और प्रगीत काव्य से सामान्य काव्य दृष्टि से भी श्रेष्ठतर है।

३—वह काव्य में प्रकृति-चित्रण को स्वतंत्र और महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। परन्तु उसे प्रसंगनिष्ठ, संश्लिष्ट और अभिधामूलक रूप में ही देखना चाहते हैं। प्रकृति के लाक्षणिक, भावाक्षिप्त प्रतीकात्मक प्रयोग को वे अधिक महत्त्व नहीं देते। यहाँ भी अभिधा पर अत्यन्त आग्रह उनके प्रकृति काव्य के क्षेत्र को संकीर्ण बना देता है।

४—वे काव्य में कवि के व्यक्तित्व और उसके भाषा-शैली-सम्बन्धी प्रयोगों को कोई महत्त्व नहीं देते। वे व्यक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद के विरोधी हैं। उनके लिए काव्य लोक-सामान्य और अभिधामूलक, रसनिष्ठ होना चाहिए। वह लोकमंगल और वाच्यार्थ की भूमियों को क्षण भर के लिए भी छोड़ना नहीं चाहते।

५—वे काव्य में भाव-प्रकाशन को तो महत्त्व देते हैं परन्तु काव्य के बौद्धिक पक्ष को उतना महत्त्व नहीं देते। फलतः जिस काव्य में जितना बौद्धिक पक्ष अधिक है, उतना ही वह उन्हें अग्राह्य है। सिद्धों, योगियों (नाथों) और संतों के काव्य में साहित्य पक्ष की गौणता है। फलतः वे उसे काव्य की श्रेणी में रखने को तयार नहीं। कदाचित् पंत की 'युगवाणी' और आधुनिक बुद्धि-मूलक कविताओं के प्रति भी उनकी प्रतिक्रिया यही होती। वे धर्म और दर्शन की साधनात्मक और आध्यात्मिक अनुभूति को काव्य की कोटि में रखना नहीं चाहते। फलतः वे रहस्यवादी काव्य के प्रति असहिष्णु हैं। उनकी कविता की परिभाषा प्रकृति के गो-गोचर रूपों और मानव के जीवन-व्यापारों और उसमें सदासद् के संघर्षों तक ही सीमित रहती है। वह आभ्यंतरिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्रों को ग्रहण नहीं करती।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से शुक्ल जी ने अपने लिए रसवाद का एक नया मनोवैज्ञानिक संस्करण तैयार कर लिया है, वहाँ वह अपनी प्रयोगों की भूमि को अपनी अभिरुचि पर आश्रित हो बहुत संकुचित कर लेते हैं। काव्य में लोक-मंगल, प्रबंध, प्रकृति चित्रण, अभिधात्मक अभि-व्यंजना और लोक-सामान्य जीवन की टेकें ले कर वे चले हैं। कवि के व्यक्ति-गत, आभ्यंतरिक, वैचारिक, प्रयोगात्मक पक्षों की उन्होंने अवहेलना की है। फलतः वे सभी प्रकार के काव्य के प्रति सहृदय नहीं बन सके हैं। प्रसाद का काव्य और उनके काव्य सिद्धान्त उनके एक दम विरोधी जान पड़ते हैं। इस रुचिगत भेद के कारण उनकी समीक्षा प्राचीनों में तुलसी-जायसी और आधु-निकों में प्रेमचंद और पंत के प्रति तो न्याय कर सकती है परन्तु सूर, कबीर, रीतिकवियों और निराला, प्रसाद, महादेवी के प्रति तो वे स्पष्ट ही न्यायशील नहीं बन पाये हैं। उन्होंने गीतिकाव्य की उपेक्षा की है और हिन्दी काव्य की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा गीतों में ही विकसित हुई है। फलतः उनकी समीक्षात्मक और ऐतिहासिक दृष्टि वैज्ञानिक और तटस्थ नहीं रह पाती। यह दूसरी बात है कि

उन्होंने अपनी स्थापनाओं को भाषा और भाव की इतनी गंभीरता देकर उपस्थित किया है कि आज भी हम उनकी मान्यताओं से आतंकित हैं, परन्तु उनकी वैयक्तिक रुचि-अरुचि, उनकी युग की सीमाओं और उनकी साहित्यिक लोकाश्रयी दृष्टि को सम्यक् रूप से परख कर ही हम उन्हें साहित्य-विकास की भूमि पर से देख सकते हैं।

हिन्दी में शास्त्रीय आलोचना का जन्म और विकास

शास्त्रीय आलोचना से हमारा तात्पर्य उस आलोचना से है जिसका आधार प्राचीन आचार्यों की रस, अलंकार, गुणदोष सम्बन्धी सैद्धान्तिक धारणाएँ हैं। इन धारणाओं को ही हम संक्षेप में 'शास्त्र' के नाम से पुकारते हैं। साहित्य के इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले साहित्यिक रचनाएँ सामने आईं, बाद में उनके आधार पर साहित्य-परीक्षा के सार्वभौमिक अथवा सर्वमान्य सिद्धान्तों का आविष्कार हुआ। परन्तु बाद में ये सर्वमान्य सिद्धान्त साहित्यालोचन के मापदंड बन गए और परवर्ती रचनाओं का मूल्यांकन उन्हीं के आधार पर होने लगा। यह निश्चय है कि परिवेश के परिवर्तन से साहित्यिक मूल्यों में भी परिवर्तन हो जाता है और प्रत्येक युग साहित्य की परख के लिए नया दृष्टिकोण, नई जीवनदृष्टि और नया मापदंड लाता है। साथ ही नई माँग से नए प्रकार के साहित्य का जन्म होता है। मानव-चेतना के विकास के साथ-साथ साहित्य-चेतना में भी विकास होता गया है। अतः किसी भी शाश्वत आलोचना-शास्त्र की कल्पना असम्भव है। फिर भी प्रत्येक भाषा के साहित्य में शास्त्र के रूप में बहुत कुछ मनन-चिंतन मिलता है और नई रचनाओं को उसके आधार पर परखने का भी प्रयत्न होता रहता है। इससे नई प्रतिभा पर प्रहार भी हो सकता है और कुछ कृतियों के साथ अन्याय भी सम्भव है, परन्तु यह दूसरी बात है।

शास्त्रीय आलोचना जहाँ विशुद्ध शास्त्रीय अथवा साहित्यिक मानदंडों को लेकर चलती है, वहाँ सर्जनात्मक अथवा प्रभाववादी आलोचना साहित्यिक कृति में व्यक्तिगत ढंग से सौन्दर्य का अन्वेषण करती है। उसका मापदंड साहित्य शास्त्र नहीं, स्वयं आलोचक है। शास्त्रीय समीक्षा समीक्षा का एक छोर है। दूसरा छोर है यह व्यक्ति मुख प्रभाववादी समीक्षा जिसमें समीक्षक किन्हीं निर्धारित सिद्धान्तों से बँध कर नहीं बैठ जाता। वह रचना से सीधा प्राण-सम्बन्ध स्थापित करता है। प्रभाववादी आलोचना में समीक्षक की रुचि-अनरुचि ही अधिक महत्त्वपूर्ण रहती है। उसे हम कलाकृति में समीक्षक के व्यक्तित्व का प्रसार भी कह सकते हैं। इस प्रकार की समीक्षा में साहित्यिक सौन्दर्य के विकास का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है और समीक्षक का व्यक्तित्व आलोच्य वस्तु से कहीं अधिक महत्त्व प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार की आलोचना रचनात्मक साहित्य का अंग है और उसमें वस्तून्मुख सत्य की अपेक्षा कलात्मक अनुभूति का सत्य ही अधिक विस्तार से संयोजित होता है। एक तीसरे प्रकार की समीक्षा भी हमारे सामने है जिसमें वैज्ञानिक विश्लेषण की प्रधानता रहती है और साहित्यकार और उसकी रचना के सूक्ष्म अंतर्सत्य को 'चीड़फाड़' के साथ उपस्थित किया जाता है। इसे हम वैज्ञानिक समीक्षा-शैली कह सकते हैं।

वैज्ञानिक समीक्षक जहाँ एक ओर रचना के अंग-प्रत्यंग को विश्लेषित कर उसमें अंतर्निहित कलात्मक और सौन्दर्यनिष्ठ सत्य की उपलब्धि की चेष्टा करता है, वहाँ वह दूसरी ओर उसे साहित्य के बाहर समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, मनोविज्ञान और राजनीति की समसामयिक धाराओं के माध्यम से भी देखता है। इसमें सन्देह नहीं कि विवेचन-पद्धति की गम्भीरता और निर्वैयक्तिकता में वैज्ञानिक शैली विशुद्ध शास्त्रीय समीक्षा-शैली के समकक्ष ठहरती है और नई आलोचना में दोनों शैलियों को समादृत करने का प्रयत्न बराबर चल रहा है। गम्भीर आलोचक प्रभाववादी समीक्षा को अधिक महत्त्व नहीं देते, यद्यपि सभी देशों में इस प्रकार की पद्धति चल रही है और किन्हीं अंशों में

उसकी उपादेयता भी अस्वीकार नहीं की जा सकती। श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाओं का एक सत्य ऐसा भी है जो स्वसंवेद्य है, जो न विशुद्ध साहित्यिक या शास्त्रीय मापदंडों में बँध पाता है, न वैज्ञानिक समीक्षा को 'चीरफाड़' और राजनीति, अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान की अन्विति के भीतर सिमटता है। यह स्वसंवेद्य सत्य वस्तुतः अनुभूति का सत्य है और प्रभाववादी समीक्षक इसे ही उद्घटित करने का दावा करते हैं।

यहाँ हमें केवल शास्त्रीय आलोचना के विकास को लेकर चलना है। शेष दोनों प्रकार की समीक्षा-शैलियाँ हमारे विषय के अन्तर्गत नहीं आतीं।

प्राचीन हिन्दी साहित्य के महारथियों के सामने संस्कृत के महान् आचार्यों की रचनाएँ थीं, उनके 'शास्त्र' थे। काव्य और नाटक, रस और ध्वनि, अलंकार और गुण को लेकर काफ़ी चर्चा हो चुकी थी और इस चर्चा में बहुत रस भी था। इस विस्तृत साहित्य-चर्चा के बाद हिन्दी के लिए कोई नया और स्वतंत्र मार्ग उपस्थित करना असम्भव जान पड़ा। फलतः संस्कृत के ग्रन्थों के आधार पर लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। और परम्परा को स्वनिष्ठ करने का प्रयत्न हुआ। एक तरह से हम इसे हिन्दी समीक्षा का पहला स्फुरण कह सकते हैं। इसमें नया अधिक नहीं है। कहीं-कहीं प्राचीन आचार्यों का उल्था-भर है, जहाँ स्वतंत्र मौलिक मत-स्थापन की चेष्टा है, वहाँ भी अस्पष्टता और अपूर्णता रह सकती है। परन्तु इस प्रयत्न की ईमानदारी में कोई सन्देह नहीं हो सकता। रीतियुग की सम्पूर्ण काव्य-शास्त्र-चर्चा इस वर्ग के अंतर्गत आ जाती है।

आधुनिक युग में शास्त्रीय आलोचना को कुछ अधिक गहरी नींव देनी पड़ी। भारतेन्दु हरिश्चंद का 'नाटक' नाम का प्रबंध नींव का पहला पत्थर है। यह एक छोटी-सी रचना थी जो १८८४ ई० में उपस्थित हुई। इसमें प्राचीन भारतीय नाट्य-मत और अंग्रेज़ी नाट्य शास्त्र का संक्षिप्त परिचय देकर लेखक एक विशेष प्रकार से समन्वय का आग्रह करता है। रचना छोटी है,

परन्तु उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। इसके बाद हमारे सामने आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की रचनाएँ आती हैं। द्विवेदी जी ने नवीन ढंग से साहित्य की व्याख्या की और काव्य के लिए नई कसौटी का निर्माण किया। उनके कुछ लेखों में समीक्षा-सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण अत्यन्त सुन्दर रीति से उभर आता है। वे बहुत कुछ परम्परावादी होते हुए भी नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के समर्थक थे और उन्होंने ही काव्य और साहित्य को सामान्य जीवन और अनुभूति से संयुक्त किया।

बीसवीं शती के पहले दो दशकों में शास्त्रीय आलोचना के क्षेत्र में दो दल थे। एक दल भारतीय साहित्य-शास्त्र को ही एक मात्र आधार मानता था और अलंकार, रस-रीति और गुण-दोष-विवेचना तक सीमित था। लाला भगवानदीन 'दीन' और पंडित पद्मसिंह शर्मा इस दल के अग्रणी थे। दीन जी ध्वनि-काव्य के मर्मज्ञ और अलंकारवाद के समर्थक थे और शर्मा जी रीतिवादी थे। उन्होंने देव और बिहारी पर आलोचनाएँ लिख कर एक बहुत बड़े साहित्यिक बवंडर को जन्म दिया और तुलनात्मक आलोचना-शैली की नींव डाली। इन दोनों कलाविदों की रचना का मुख प्राचीनता की ओर था। उनके लिए 'क्लासिकल काव्य' ही सब कुछ था। वे शब्द और अर्थ के अद्-भुत पारखी थे। रचना के साहित्यिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञा-निक पक्ष की ओर उनका ध्यान नहीं था, परन्तु उनकी परिष्कृत सौन्दर्य दृष्टि में अविश्वास नहीं किया जा सकता। दूसरे दल का रुझान भारतीय समीक्षा दृष्टि की ओर था, परन्तु वह पश्चिमी काव्य और काव्यशास्त्र से परिचित था और दोनों को साथ लेकर चलना चाहता था। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दर दास, मिश्र बंधु और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को हम भारतेन्दु की समन्वयात्मक समीक्षा-दृष्टि का ही विकास मानेंगे। मिश्र बंधुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' लिख कर शास्त्रीय समीक्षा की एक नई शैली का निर्माण किया। बाबू श्यामसुन्दर दास के 'साहित्यालोचन' ने सैद्धान्तिक समीक्षा का एक सम्पूर्ण चित्र उपस्थित किया। परन्तु शास्त्रीय

समीक्षा के क्षेत्र में कदाचित् सबसे महत्त्वपूर्ण और संगठित कार्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है।

आचार्य शुक्ल के आलोचनात्मक प्रबन्धों, उनके हिन्दी साहित्य के इतिहास और रसमीमांसा में हमें उनकी विशिष्ट समीक्षा-दृष्टि का पता चलता है। समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन उनके तीन-चार निबन्धों, रसमीमांसा और २४ वें हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के साहित्य-विभाग के अध्यक्ष पद से दिए गए उनके भाषण में मिलता है। उनकी सूर, जायसी और तुलसी पर लिखी विस्तृत व्यावहारिक आलोचनाएँ ही अधिक लोकप्रिय हुई परन्तु उनके पीछे उनके सैद्धान्तिक ज्ञान का मेरुदंड है और बीच-बीच में आलोच्य साहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष का भी मार्मिक उद्घाटन हुआ है। वास्तव में शुक्ल जी ने ही हमें पहली बार एक परिपूर्ण साहित्यशास्त्र की झाँकी दी जो प्राचीन शास्त्रों पर आधारित होता हुआ भी नवीन पश्चिमीय सौन्दर्य दृष्टि को एकदम विस्मृत नहीं कर देता। ध्वनि काव्य के प्रशंसक होते हुए भी आचार्य शुक्ल मूलतः रसवादी हैं, परन्तु इस रसवाद को उन्होंने प्राचीन आचार्यों की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत भूमि दी है और मनोविज्ञान की नवीनतम खोजों और स्वानुभूत सत्य के आधार पर उसकी नवीन ढंग से विवेचना भी की है। शुक्ल जी जहाँ एक ओर अलंकारवादियों का विरोध करते हैं, वहाँ वे दूसरी ओर क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से भी अपनी असहमति प्रगट करते हैं। पश्चिम की साहित्यधाराओं और समीक्षा-शैलियों की उन्होंने कड़ी आलोचना की है, परन्तु भारतीय रस-शास्त्र की अपूर्णता से भी वे परिचित हैं। व्यावहारिक आलोचना में भी बीच-बीच में सिद्धान्त-स्थापन से वह नहीं चूकते। उनके लिए साहित्य-शास्त्र पुस्तक-पृष्ठों तक सीमित जड़ परम्परा नहीं है, वह साहित्य की जीवित-जाग्रत, क्रियमाण प्रेरणा है। इस प्रकार जहाँ साहित्य पूर्व परम्परा से सम्बन्धित हो जाता है, वहाँ वह नई प्रवृत्तियों को भी समेट कर चलता है। शुक्ल जी की आलोचना ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षाओं को प्रभावित किया और गंभीर साहित्य-चिंतन को एक नया रूप दिया।

शुक्ल जी की शास्त्रीय विवेचना की पद्धति का विकास हम काशी के आलोचकों और उनकी शिष्य-मंडली में पाते हैं। पुरानी पीढ़ी में डा० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्ण शंकर शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी और श्री शिवनाथ आदि नवीन पीढ़ी में शुक्ल जी की परम्परा को ही आगे बढ़ाते हैं। यह वर्ग समीक्षा-क्षेत्र में विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि का पक्षपाती है। कदाचित् बाजपेयी जी को छोड़ कर सब में पुरानापन ही अधिक है, परन्तु गम्भीर विवेचना और पांडित्यपूर्ण तर्कवाद की दृष्टि से यह दल अब भी अग्रणी है। बाजपेयी जी का पश्चिमी साहित्यशास्त्र और पश्चिमी साहित्य का अध्ययन गहरा है और उनसे हम नई समीक्षा दृष्टि के विकास की अधिक आशा रखते हैं। 'बीसवीं शताब्दी' और 'आधुनिक साहित्य' के निबंध उनकी निर्लिप्त समीक्षा-बुद्धि और तर्क-पूर्ण भाषा-शैली के साक्षी हैं। जो हो, यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग में गम्भीर समीक्षा का जो कार्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रवर्तित हुआ था, वह आज और भी व्यापकता पा गया है और हमारे समीक्षकों का एक सशक्त दल उनकी ध्वजा लेकर आगे बढ़ रहा है।

शुक्ल जी के बाद शास्त्रीय विवेचन के क्षेत्र में जो समीक्षक आये हैं उनमें प्रमुख हैं श्री गुलाबराय, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र और डा० सत्येन्द्र। इनमें से अधिकांश का सम्बन्ध उच्च कक्षाओं के अध्ययन-अध्यापन और विश्वाविद्यालयों एवं खोज-संस्थाओं से है। ये सभी भारतीय समीक्षा शास्त्र के पंडित और अपने-अपने ढंग पर प्राचीनता का आधार लेते हुए भी पर्याप्त मात्रा में नवीनता को लेकर चले हैं। नवीनतम 'वादों' के प्रति इनका अधिक आग्रह नहीं है, परन्तु इन्होंने शास्त्रीय एवं साहित्यिक समीक्षा-पद्धति के साथ-साथ दर्शन, संस्कृति और मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि को भी स्वीकार किया है और इस तरह अपनी शास्त्रीय समीक्षा को आवश्यक विस्तार दिया है। नवीन मतवादों ने उनकी शास्त्रीय दृष्टि धूमिल नहीं की है, यह हर्ष की ही बात है। इस क्षेत्र में कुछ और गम्भीर समीक्षक भी आ रहे

हैं। डा० देवराज ने 'छायावाद का पतन' और 'साहित्यचिंता' लिख कर नई प्रतिभा की सूचना दी है। 'साहित्यचिंता' के कुछ निबन्धों में उन्होंने साहित्य के मूल्यांकन के सम्बन्ध में कुछ नई मान्यताएँ उपस्थित की हैं और हिन्दी साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियों को विश्वसाहित्य के परिपार्श्व में रख कर देखा है। डा० भगीरथ मिश्र, डा० रघुवंश, श्री बच्चन सिंह, श्री गंगाप्रसाद पांडेय, श्री जानकी वल्लभ शास्त्री, श्री नामवर सिंह इस क्षेत्र के कुछ अन्य जाज्वल्य-मान नक्षत्र हैं। सच तो यह है कि आज विभिन्न साहित्यिक आंदोलनों और राजनैतिक वादों के बीच में रह कर विशुद्ध साहित्यिक एवं शास्त्रीय दृष्टि लेकर चलना कुछ कठिन ही हो रहा है।

शास्त्रीय आलोचना के परवर्ती विकास में विश्वविद्यालयों और उनके अध्यापकों एवं अन्वेषकों का विशेष हाथ रहा है। १९२२ ई० में हिन्दी साहित्य उच्च कक्षाओं में अध्ययन-अध्यापन का विषय बन गया और पठन-पाठन की आवश्यकतानुसार प्रधान कवियों और लेखकों, प्रमुख कृतियों और साहित्यिक आंदोलनों पर ग्रंथ लिखे जाने लगे। अधिकांश समीक्षकों का दृष्टिकोण सीमित था और रस, अलंकार, गुण-दोष के नाम गिना कर ही सन्तोष कर लिया जाता था। यह आवश्यकता जान पड़ी कि भारतीय साहित्य-समीक्षा के विभिन्न अंगों (रस, रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्यवाद) पर नये ढंग से लिखा जाये और प्राचीन ज्ञान को नये वैज्ञानिक परीक्षा की तुला पर तौला जाय। फलतः इन विषयों पर कुछ अधिकारी कृतियाँ सामने आईं। छंद शास्त्र के क्षेत्र में जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' के 'छंद प्रभाकर' के बाद नारायण प्रसाद बेताब का 'पिंगलसार' महत्त्वपूर्ण है। अलंकार के क्षेत्र में श्री अर्जुनदास केडिया, श्री कन्हैयालाल पोद्दार और डा० रसाल की रचनाएँ सामने आईं। ध्वनि के सम्बन्ध में लाला भगवान दीन की पुस्तक 'व्यंगार्थमंजूषा' ही एक मात्र सुन्दर रचना है। रस-शास्त्र कुछ अधिक लोकप्रिय रहा। इस क्षेत्र में प्राचीन विवेचना शैली में लिखी रचनाओं में हरिऔध जी का 'रसकलश' प्रमुख है। श्री गुलाबराय का 'नवरस' और

श्री गंगाप्रसाद श्रीवास्तव का 'हास्यरस' ग्रंथ रस को मनोविज्ञाननिष्ठ बनाकर चलते हैं। इन रचनाओं में पश्चिमी सौन्दर्यवादी कलासमीक्षा का भी सहारा लिया गया है। प्राचीन समीक्षा दृष्टि को समझने के लिए सीताराम शास्त्रीय का 'साहित्य सिद्धांत', डॉ० गंगानाथ झा की रचना 'कवि रहस्य' और श्री बिहारी लाल भट्ट का 'साहित्यसागर' जैसी रचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि सभी काव्यांगों पर विशद रूप से नहीं लिखा गया और सुनिश्चित भारतीय सौन्दर्य दृष्टि और अभिनव साहित्य शास्त्र के निर्माण का आयोजन नहीं हो सका। इस क्षेत्र में डा० बलदेव उपाध्याय की पुस्तक 'भारतीय साहित्य शास्त्र' ही एक मात्र ऐसी रचना है जो सम्पूर्ण भारतीय शास्त्रचिंता को समेट लेती है। अभी इस दिशा में बहुत कुछ होना है। श्री लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु' का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' और श्री रामनरेश का 'वक्रोक्ति और अभिव्यंजना' ग्रंथ इस क्षेत्र में नवीनतम प्रयत्नों के प्रतीक हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि सैद्धांतिक विवेचना शास्त्रीय आलोचना का मेरुदंड है। इस क्षेत्र में आधुनिक दृष्टिकोण से लिखी पुस्तकें कम हैं। डा० श्यामसुन्दर दास का 'साहित्यालोचन' श्री विनय मोहन शर्मा की 'साहित्यकला' नाम की रचना, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'रसमीमांसा' ग्रंथ और श्री नन्द दुलारे बाजपेयी और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के सैद्धांतिक निबंध— यही कुछ सामग्री इस क्षेत्र में है। अभी हम अपने आचार्यों के विभिन्न मतवादों को वैज्ञानिक भित्ति नहीं दे सके हैं। पश्चिमी साहित्य-शास्त्र की मनोवैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक अंतर्दृष्टि को भी अभी हम अपनी समीक्षा-शैलियों में अन्तर्भूक्त नहीं कर पाये हैं।

आज 'वादों' के झमेले में विशुद्ध शास्त्रीय आलोचना का मार्ग अवरुद्ध-सा हो गया है। मार्क्सवादी, फ्राइडवादी, अंतश्चेतनावादी आलोचक साहित्य पर राजनीति, मनोविज्ञान अथवा यौनविज्ञान की नई खोजों का इतना आरोप

कर रहे हैं कि विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि लुप्त होती जा रही है। साहित्य शब्द, अर्थ, भाव और रस से सम्बन्धित न होकर जीवन की एकांगी भंगिमाओं में बँध गया है और नया आलोचक भी वादों के पूर्वग्रह से पथभ्रष्ट होता जा रहा है। दूसरी ओर भारतीय साहित्य-समीक्षा के नाम पर रस और अलंकार का निर्देशन-मात्र ही सब कुछ समझ लिया गया है और व्यावहारिक समीक्षा बँधी-बँधाई परिपाटियों में जकड़ कर अर्थहीन और नीरस बन गई है। आवश्यकता इस बात की है कि हम नए सौन्दर्य बोध को जाग्रत करें और विभिन्न भारतीय मतों को संश्लिष्ट कर एक निश्चित मानदंड का निर्माण करें जो साहित्य को देह और आत्मा के साथ पूर्णतयः न्याय कर सके। इस मानदंड को मनोविज्ञान और सौन्दर्य शास्त्र की पश्चिमी मान्यताओं से पुष्ट करना होगा और उसमें कलाकार के व्यक्तित्व और उसके युग की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को महत्त्वपूर्ण स्थान देना होगा। उसकी पद्धति तार्किक रहेगी और उसमें किसी भी वाद विशेष का पूर्वग्रह नहीं रहेगा। जब तक हम ऐसे सुनिश्चित समन्वित साहित्य-शास्त्र का निर्माण नहीं कर लेते तब तक हमारी शास्त्रीय आलोचना अपूर्ण और एकांगी रहेगी और इसे हम नये युग के सौन्दर्य-बोध से सम्बन्धित नहीं कर सकेंगे।

गुप्तजी का 'जयभारत'

'जयभारत' राष्ट्रकवि श्री मैथिली शरण गुप्त की नवीन रचना है। इस रचना में उन्होंने एक तरह से सम्पूर्ण महाभारत को काव्यबद्ध कर दिया है। विस्तार और उद्देश्य की दृष्टि से यह रचना पिछले कुछ दिनों में प्रकाशित उनकी सब रचनाओं से बड़ी है और एक प्रकार से उसमें स्वयं गुप्तजी की पिछली कई रचनाओं का समाहार हो गया है। साकेत और द्वापर के बाद कवि ने इतनी बड़ी चित्रपटी पर पहली बार कलम चलाया है। विषय के सांस्कृतिक महत्त्व को देखते हुए भी यह रचना महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी काव्य के मध्य युग में हमें महाभारत का आधार अधिक नहीं मिलता। उस समय के साहित्य पर कृष्ण भक्ति की छाप है और इसलिए भागवत का आधार ही अधिक स्वीकृत है, परन्तु आन्ध्र और महाराष्ट्र के साहित्य में महाभारत के अनेक प्रकरणों और आख्यानों को खंडकाव्यों और महाकाव्यों का विषय बनाया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत हिन्दू संस्कृति का महाकोष है और सांस्कृतिक संघातों के युग में हमारे कवियों और साहित्य नेताओं को उसी की ओर देखना पड़ा है। अपनी इस रचना में गुप्तजी ने भारतीय सांस्कृतिक विचारों का नवीन संस्करण उपस्थित किया है और इस प्रकार आधुनिक संस्कृति के व्याख्याता साहित्यकारों में अपनी भी एक शृंखला जोड़ी है।

श्री मैथिली शरण गुप्त सचमुच ही हमारे राष्ट्रकवि हैं। उन्होंने पिछले

५० वर्षों में हमारी राष्ट्रचेतना को बहुत कुछ दिया है। 'भारत-भारती', 'स्वदेश संगीत' और अनेकानेक राष्ट्रगीतों के द्वारा उन्होंने हमारी राष्ट्रचेतना को अन्यतम रूप से प्रभावित किया है। इसीसे हम उन्हें 'राष्ट्रकवि' कहते हैं। परन्तु वास्तव में उनका महत्त्व और भी अधिक है। उनका कवि-कर्म आधुनिक भारतीय जीवन और भारतीय मन की सारी व्यापक भूमियाँ समेट कर चलता है। वह निश्चय ही हमारे सांस्कृतिक कवि हैं।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से गुप्तजी का काव्य हमारे सामने आने लगता है। उसमें हमें भारतीय पुनर्जागरण का एक व्यापक स्पंदन मिलता है। वास्तव में काव्य के क्षेत्र में यह पुनर्जागरण उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना सांस्कृतिक चेतना के क्षेत्र में उन्नीसवीं शताब्दी का पुनर्जागरण। उन्नीसवीं शताब्दी में यह पुनर्जागरण राजा राममोहन राय से आरम्भ होता है और स्वामी दयानन्द, बंकिमचंद, विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक इस जागरण के प्रतीक के रूप में हमारे सामने आते हैं। इन महामानवों ने पश्चिम के सांस्कृतिक प्रभाव को रोका और भारत की अपनी सनातन संस्कृति के मूलतत्त्वों की एक बार फिर स्थापना की। उन्होंने अपनी ओर से कुछ नहीं जोड़ा, परन्तु हमारी संस्कृति के भूले हुए अध्यायों को फिर एक बार आकर्षक ढंग से हमारे सामने रखा। वेद, उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र (वेदांत) उनके मानदंड थे जो पुरातन होते हुए भी नित्य नवीन थे। भक्तिवाद कर्मवाद और ज्ञानवाद की नई युग-समीचीन व्याख्या ने उन्नीसवीं शती के नये मध्यवित्त जीवन के लिए एक नई संस्कृति की आयोजना की। गुप्तजी में हम इस नई मध्यवित्तीय संस्कृति का जयघोष पाते हैं। एक तरह से जो प्रक्रिया उन्नीसवीं शताब्दी के पहले चरण में बंगाल में राजा रामहोसन राय से आरम्भ हुई है, गुप्त जी के काव्य को हम उसका साहित्यिक समीकरण कह सकते हैं। उन्होंने पुरातन पौराणिक आख्यानों को नये संदर्भ दिये और महाभारत, रामायण और भागवत के पात्रों को मानवता की नई भूमि देकर हमारे सामने उपस्थित किया। 'पंचवटी', 'साकेत' और 'द्वापर' में

उनका यह प्रयत्न प्रशंसित रहा है। उन्होंने भगवान बुद्ध से लेकर सिख-सन्तों तक—भारतीय महा-पुरुषों की एक चित्रपटी हमें दी है।

वास्तव में संस्कृतियों के संघात का समय किसी भी जाति या राष्ट्र के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहता है। उस समय पुरातन को नए प्रकाश में देखना होता है और उसे युग के अनुरूप नई भाषा देनी पड़ती है। हमारा अपना युग भी पूर्वी-पश्चिमी संघात का युग है। राजा राममोहन राय से गाँधी जी तक हमने अपनी सांस्कृतिक धाराओं का पुनर्लेखन ही किया है, परन्तु यह पुनर्लेखन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह हमारे आत्म बल का सूचक है और यही पहला चरण हमें नए सांस्कृतिक समन्वय के दूसरे चरण के लिए तैयार करता है।

'जयभारत' इस प्रयत्न की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। उसमें हमें भारतीय संस्कृति के महाकोष और भारतीय आदर्शों के महत्तम प्रतीक-ग्रंथ महाभारत का नया काव्य-संस्करण प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ के अनेक प्रकरण और पात्र गुप्त जी पहले ही उपस्थित कर चुके थे। उनके काव्योत्कर्ष की प्रथम सूचना १६१० में 'जयद्रथ-बध' से ही मिली थी। बाद में शकुन्तला, बक संहार, वन वैभव, सैरिंध्री, द्वापर, नहुष, हिडिम्बा, केशों की कथा, गीतामृत आदि के रूप में उन्होंने महाभारत के प्रमुख आख्यानों और प्रासंगिक कथाओं को छंदों में बाँधा। 'जयभारत' में उन प्रारम्भिक प्रसंगों को समाहृत कर लिया गया है। आरम्भ के निवेदन में स्वयं कवि ने इस सम्बन्ध में लिखा भी है, परन्तु ग्रन्थ के विस्तार को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नवीन सामग्री ही अधिक है और प्रारम्भिक प्रयत्न अथवा स्फुट अंश ग्रंथ के लिए समीकरण में जैसे खो-से गए हैं। फलस्वरूप हम सम्पूर्ण ग्रंथ पर एक साथ विचार कर सकते हैं।

महाभारत प्राचीन भारत का ऐतिह्य ही नहीं है। वह हिन्दू जाति की परंपरागत गाथाओं और उसकी विचार-धाराओं का भांडार है। महाकवि

और नाटककार लगभग २० शताब्दियों से अपनी सामग्री के लिए उसका उपयोग करते रहते हैं उसमें स्मृति, दर्शन, धर्म और आचार के साथ अनेकानेक कथाएँ, उपकथाएँ, संवाद और लोक श्रुतियाँ गुंफित हैं। वास्तव में ग्रंथ का अधिकांश भाग इन्हीं से पूर्ण है। भारत की धर्म जिज्ञासा ने किस प्रकार युगों-युगों तक मनुष्य के सार्वभौम प्रश्नों के सम्बन्ध में चिंतन-मनन किया है, यह हम उससे जानते हैं। मनुष्य का दृश्यमान जगत और परोक्ष से क्या सम्बन्ध है, जीवन-मरण,जन्म-जन्मान्तर, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, आचार का मानदंड क्या हो, चिरन्तन शांति कैसे प्राप्त हो—ये कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं जिन्हें महाभारतकार ने उपस्थित किया है। इन चिरन्तन प्रश्नों का जो समाधान महाभारतकार ने उपस्थित किया है वह आज कई शताब्दियों से हिन्दू जीवन का मूल सूत्र रहा है।

'जयभारत' में कवि ने उन्हीं प्राचीन समाधानों को नई भूमि पर उपस्थित किया है। उसमें महाभारत के १८ पर्वों की कथा कहीं विस्तार से, कहीं संक्षेप में उपस्थित की गई है। आदि पर्व, सभा पर्व, वन पर्व, विराट पर्व, उद्योग पर्व, और भीष्म पर्व की सामग्री अपेक्षा कृत अधिक है। भारती-युद्ध से सम्बन्धित चार पर्वों (द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक) को केवल दो छोटे खंडों में रख दिया गया है। शेष अंतिम पर्वों की कथा अत्यन्त संक्षेप में है। 'शान्तिपर्व' का मूलग्रंथ में कदाचित् सबसे अधिक महत्त्व है। वह धर्म, आचार और राजनीति का कोष है। परन्तु लेखक ने उसे प्रसंगेतर मान कर लगभग छोड़ दिया है। एक तरह से केवल कौरवों-पांडवों की कथा को कहने की चेष्टा-मात्र उसने की है। भारती-युद्ध का सविस्तार वर्णन अथवा धर्मनीति की व्याख्या कवि का उद्देश्य नहीं है। वह महाभारत के प्रधान पात्रों को नई चारित्रिक भूमि दे कर सामने ला रहा है। साथ ही वह महाभारतकार के आदर्शवादी दृष्टिकोण की नई मानवतावादी व्याख्या देना चाहता है। महाभारत में भाग्य का जयघोष है परन्तु 'जयभारत' का कवि मानव का जयकाव्य उपस्थित करना चाहता है। पहले खंड 'नहुष' की अंतिम पंक्तियाँ हैं :

मानता हूँ और सब हार नहीं मानता,
अपनी अगति आज भी मैं नहीं जानता।
आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूँगा कल मैं ही अपवर्ग भी।
गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी ?
मैं ही तो उठा था, आज गिरता हूँ जो अभी
फिर भी उठूँगा और बढ़ के रहूँगा मैं
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़ के रहूँगा मैं।

'जयभारत' में कवि ने द्वापर के पात्रों द्वारा अपने युग की यही मानव की अदम्य कर्मण्यता का संदेश दिया है। सम्भवतः इसीलिए उसने 'अनुशासन पर्व' की नहुष की कथा को काव्य के प्रारम्भ में रख दिया है। परन्तु यह कर्मण्यता भौतिक क्षेत्र को उतना महत्त्व नहीं देती। उसका क्षेत्र धर्म का क्षेत्र है। 'धर्म' का अर्थ बड़ा व्यापक है। स्वयं महाभारतकार ने धर्म को विशद अर्थ दिये हैं और 'जयभारतकार' ने भी ग्रन्थ के आरम्भ में युधिष्ठिर की दो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं जिन में धर्म को सर्वोपरि कहा गया है। धर्म की यह चिर नवीन-चिर प्राचीन व्याख्या ही कवि का अभिप्रेत है। 'स्वर्गारोहण पर्व' में धर्म का जो रूप कवि ने दिखलाया है वह इसी भावना के अनुसार है। श्रेष्ठ धार्मिक पुरुष की भाँति युधिष्ठिर पांचाली और चारों भाइयों की दुर्बलताओं को अपनी ही दुर्बलता मान लेते हैं। अर्जुन के प्रति द्रौपदी की पक्षपातिता को वह अपनी ही पक्षपातिता मानते हैं। इसी प्रकार सहदेव के रूपाभिमान को अपना रूपाभिमान और नकुल के बुद्धि गर्व को अपना बुद्धि गर्व। परम स्नेहियों से बिछुड़ कर भी उनका आत्म विश्वास कुंठित नहीं होता। वह कहते हैं—

जो होना था सो हुआ करे
मेरे अधीन मेरा पथ है,

माने वह बाधा-विघ्न कहाँ,
जिसका अविरुद्ध मनोरथ है।

वह देह के प्रति अनासक्ति भाव को धारण करते हुए उसे उदारतम तत्त्वों में मिल जाने की सलाह देते हैं। अंतिम दृश्य में हम युधिष्ठिर को स्वयं धर्म के प्रतीक रूप में पाते हैं। वह अपने पथ के संगी श्वान को छोड़ कर स्वर्ग भी नहीं जाना चाहते और द्रौपदी और भाइयों को रौरव की यातनाएँ झेलते देख कर उनके साथ वहीं रह जाना चाहते हैं। उनके लिए यही धर्म है कि वे स्वर्ग-सुख को भी अकेला नहीं भोगें। उन्हें यह आशंका है कि कहीं नरक की सड़ाँध स्वर्ग में भी न फैल जाये। उन्हें मानवता के नाते यह उत्पीड़न भी झेलना होगा। जब तक एक भी प्राणी दुःखी है तब तक सुख की कल्पना भी अधर्म है। इसी सूक्ष्म धर्म-भावना में ग्रंथ की परिणति है।

'जयभारत' के अभिप्रेत की हम व्याख्या कर चुके। अभी उसके दो अन्य पक्षों पर हमें विचार करना है। एक पक्ष है पात्रों का आलेखन और दूसरे पक्ष को हम साहित्य-पक्ष कह सकते हैं—तात्पर्य यह कि काव्य कला का क्या रूप उसमें सुरक्षित है। पहले हम पात्रों को लेंगे।

पात्रों के आलेखन के सम्बन्ध में लेखक विशेष रूप से जागरूक रहा है, यह उसके 'निवेदन' की इन पंक्तियों से स्पष्ट है—'अपने पात्रों का आलेखन मैं कैसा कर सका, इस सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है। वह पाठकों के सामने है। उसके विषय में स्वयं पाठक जो कहेंगे, उसे सुनने को मैं प्रस्तुत रहूँगा।'

वास्तव में पात्रों की जैसी विशद और विभिन्न चित्रपटी महाभारत में मिलती है वैसी न रामायण में मिलती है, न किसी पुराण अथवा महाकाव्य में। गुप्त जी ने महाभारत के विविध प्रसंगों और आख्यानों की स्वतंत्र रूप से रचना की है और उन्हें एक सूत्र में बाँध कर सम्पूर्ण महाभारत का सारांश उपस्थित कर दिया है। फलतः पात्रों के चरित्र का वह सर्वांगपूर्ण विकास

सामने नहीं आता जो महाभारत की विशेषता है। फिर भी भीष्म, पाँचों पांडव, कुन्ती, माद्री, पांचाली, सत्यभामा, गांधारी, धृष्टराष्ट्र, कर्ण, द्रोण आदि पात्र कुछ नवीनता लेकर ही उपस्थित हुए हैं। यह नवीनता किस प्रकार की है, यही हमें देखना है। परम्परागत चरित्रों की नूतन, बौद्धिक, तर्क संगत व्याख्या गुप्त जी के चारित्रिक अनुलेखन की विशेषता है। उन्होंने महाभारत के इन पात्रों को भी बौद्धिक, तर्कवादी भूमि पर ही देखा है और अलौकिक एवं असंभाव्य को स्थान नहीं दिया है। चरित्रांकन में नवीनता के आग्रह ने 'हिड़िम्बा' जैसी राक्षसी को उच्चवृती, प्रेममयी, प्रगल्भा बना दिया है। अन्य चरित्रों को भी मानव की प्राकृत स्वभाव-भूमि पर ही अंकित किया गया है जिससे उनकी उज्ज्वलता ही बढ़ी है। द्रौपदी के तेज और कुन्ती की न्याय-बुद्धि और समदृष्टि को कवि ने अपनी कल्पना से और भी सुन्दर बना दिया है।

परन्तु 'जयभारत' के पात्रों में कदाचित् सब से आकर्षक पात्र युधिष्ठिर ही हैं। उन्हीं पर कवि की अंतर्भेदिनी आदर्शवादी दृष्टि अधिक पड़ी है। वे ही उसके अभिप्रेत अर्थात् धर्म की जय और मानव की अदम्य कर्मण्यता और मानवता के प्रतीक हैं। उन जैसा संतुलित जिज्ञासु सूक्ष्मदर्शी, विवेकी चरित्र हमें अन्य नहीं मिलता। वास्तव में 'जयभारत' में जिस 'भारत' का जय घोष है वह स्वयं धर्मराज युधिष्ठिर ही हैं। वैसे सम्पूर्ण ग्रंथ में उनकी व्याप्ति है परन्तु युद्ध के प्रसंग से उनकी महत्ता बढ़ने लगती है और अंत में स्वर्गारोहण पर्व में हम उन्हें मानव से मानवेतर बनते देखते हैं। यह कहना कठिन है कि महाभारत में युधिष्ठिर का यही रूप नहीं है, परन्तु यहाँ युधिष्ठिर अपने आत्म-तत्त्व को परतत्त्व में समाहृत कर देते हैं और वह नारायण के नर-पक्ष बन जाते हैं। स्वयं नारायण गो लोक में उनका स्वागत करते हैं। यह नर की अप्रत्याशित विजय है।

काव्य कला की दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस रचना में यद्यपि हमें गुप्त जी की काव्य कला का सामान्य रूप मिल जाता है परन्तु उसमें हमें 'साकेत' और उर्मिला की ऊँचाई कम ही मिलती है। कुछ

रचनाएँ तो उनके प्रयोग-काल की हैं—कदाचित् 'पंचवटी' से भी पहले की, जब वे पद्य-लेखक से ऊपर उठ कर कवि के रूप में पहली बार सामने आ रहे थे। वक संहार, वनवैभव, सैरिंध्री, केशों की कथा आदि रचनाएँ इसी श्रेणी की हैं। इन में इतिवृत्तात्मकता और उपदेश-प्रणाली की ही प्रधानता है। न चारित्रिक अनुलेखन की ओर दृष्टि है, न काव्योपयोगी स्थलों के निर्माण की ओर प्रवृत्ति है। नए समाहार में भी कवि प्रसंग पूर्ति का उद्देश्य ही लेकर चला है और काव्योत्कर्षक की बात जैसे भूल गया है। फिर भी कहीं-कहीं वीर और करुण रसों से सम्बन्धित सामग्री अच्छी बन पड़ी है। युद्ध के प्रसंग में कवि ने अपने 'मेघनाद-वध' के अनुवाद वाले अतुकांत छंद का सफल प्रयोग किया है। संक्षिप्त होने पर भी यह प्रसंग मार्मिक है। सच तो यह है कि कथा की क्षिप्र गति में ठहर कर कुछ कहने का भाव ही नहीं रह गया है और अलंकृति, सज्जा अथवा रूप-चित्रण के अवसर ही नहीं आते। जिस रचना को कवि ने बाल-प्रयासों के आधार पर खड़ा किया हो उसमें काव्य कला का कैलाश नहीं दिखाई दे तो आश्चर्य भी क्या है। गुप्त जी की काव्य कला अभिव्यंजना के नए-नए रूपों और कल्पना के नए-नए लोकों को लेकर नहीं चलती। वह अपने युग की तरह ही जनतंत्रीय है। फिर भी बीच-बीच में वर्णनों में सूक्ष्म आलेखन का प्रयास स्पष्ट है और रसपूर्ण स्थलों पर व्याप्त काव्य दीप्ति भी आ गई है। प्रसंगों की विदग्धता, शैली की नाटकीयता और संवादों की बौद्धिक जागरूकता और पूर्वापरता गुप्त जी की काव्यकला की विशेषताएँ हैं। 'जयभारत' में ये विशेषताएँ अनुपात में कम होने पर भी काफी हैं। इस नई रचना से कवि की महत्त्वाकांक्षा सभी स्थानों पर उसका साथ नहीं दे सकी है, परन्तु महाभारत की भूमि बड़ी व्यापक और निश्चल है। इस भूमि पर इतनी दूर चलना भी कम श्रेय की बात नहीं है।
